

## Chapter एक

### विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्न

श्रीशुक उवाच

एवमेतत्पुरा पृष्ठो मैत्रेयो भगवान्किल ।

क्षत्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह; पुरा—पूर्व काल में; पृष्ठः—पूछने पर; मैत्रेयः—मैत्रेय ऋषि ने कहा; भगवान्—अनुग्रहकारी; किल—निश्चय ही; क्षत्रा—विदुर द्वारा; वनम्—जंगल में; प्रविष्टेन—प्रविष्ट हुए; त्यक्त्वा—त्याग कर; स्व-गृहम्—अपना घर; ऋद्धिमत्—समृद्ध ।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपना समृद्ध घर त्याग कर जंगल में प्रवेश करके महान् भक्त

राजा विदुर ने अनुग्रहकारी मैत्रेय ऋषि से यह प्रश्न पूछा ।

यद्वा अयं मन्त्रकृद्धो भगवानखिलेश्वरः ।

पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो घर; वै—और क्या कहा जा सकता है; अयम्—श्रीकृष्ण; मन्त्र-कृत्—मंत्री; वः—तुम लोग; भगवान्—भगवान्; अखिल-ईश्वरः—सबके स्वामी; पौरवेन्द्र—दुर्योधन के; गृहम्—घर को; हित्वा—त्याग कर; प्रविवेश—प्रविष्ट हुए; आत्मसात्—अपना ही; कृतम्—स्वीकार किया हुआ ।

पाण्डवों के रिहायशी मकान के विषय में और क्या कहा जा सकता है? सबों के स्वामी

श्रीकृष्ण तुम लोगों के मंत्री बने। वे उस घर में इस तरह प्रवेश करते थे मानो वह उन्हीं का अपना

घर हो और वे दुर्योधन के घर की ओर कोई ध्यान ही नहीं देते थे।

तात्पर्य : गौडीय अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व दर्शन के अनुसार जो भी वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की इन्द्रियों को तुष्ट करती हो वह भी श्रीकृष्ण है। उदाहरणार्थ, श्रीवृन्दावन धाम श्रीकृष्ण से अभिन्न है (तद्भ्राम वृन्दावनम्), क्योंकि भगवान् वृन्दावन में अपनी अन्तरंगा शक्ति का दिव्य आनन्द भोगते हैं। इसी तरह पाण्डवों का घर भी भगवान् के लिए दिव्य आनन्द का स्रोत था। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि भगवान् ने इस घर को अपने ही घर की तरह समझा। अतएव पाण्डवों का घर वृन्दावन के समान था और विदुर को उस दिव्य आनन्द वाले स्थान का परित्याग नहीं करना चाहिए था। अतः उनके द्वारा घर छोड़ने का कारण वास्तव में पारिवारिक अनबन नहीं थी, प्रत्युत विदुर ने इस अवसर का लाभ ऋषि मैत्रेय से मिलने और दिव्य ज्ञान की चर्चा करने के लिए उठाया। विदुर जैसे साधु पुरुष के लिए सांसारिक मामलों को लेकर उठने वाला कोई विघ्न महत्त्वहीन था। किन्तु कभी-कभी ऐसे विघ्न

उच्चतर अनुभूति के लिए अनुकूल होते हैं, अतएव विदुर ने पारिवारिक अनबन का लाभ मैत्रेय ऋषि से भेंट करने में उठाया।

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः ।  
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कुत्र—कहाँ; क्षत्तुः—विदुर के साथ; भगवता—तथा अनुग्रहकारी; मैत्रेयेण—मैत्रेय के साथ; आस—हुई थी; सङ्गमः—मिलन, भेंट; कदा—कब; वा—भी; सह—साथ; संवादः—विचार-विमर्श; एतत्—यह; वर्णय—वर्णन कीजिये; नः—मुझसे; प्रभो—हे प्रभु।

राजा ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा : सन्त विदुर तथा अनुग्रहकारी मैत्रेय मुनि के बीच कहाँ और कब यह भेंट हुई तथा विचार-विमर्श हुआ? हे प्रभु, कृपा करके यह कहकर मुझे कृतकृत्य करें।

तात्पर्य : जिस तरह शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से पूछा था और सूत गोस्वामी ने उत्तर दिया, ठीक उसी तरह श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित की जिज्ञासाओं का उत्तर दिया। राजा इन दो महात्माओं के बीच सम्पन्न सार्थक विचार-विमर्श के विषय में जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक था।

न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः ।  
तस्मिन्वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अल्प-अर्थ—लघु ( महत्त्वहीन ) कार्य; उदयः—उठाया; तस्य—उसका; विदुरस्य—विदुर का; अमल-आत्मनः—सन्त पुरुष का; तस्मिन्—उसमें; वरीयसि—अत्यन्त सार्थक; प्रश्नः—प्रश्न; साधु-वाद—सन्तों तथा ऋषियों द्वारा अनुमोदित वस्तुएँ; उपबृंहितः—से पूर्ण।

सन्त विदुर भगवान् के महान् एवं शुद्ध भक्त थे, अतएव कृपालु ऋषि मैत्रेय से पूछे गये उनके प्रश्न अत्यन्त सार्थक, उच्चस्तरीय तथा विद्वन्मण्डली द्वारा अनुमोदित रहे होंगे।

तात्पर्य : विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के बीच के प्रश्नों तथा उत्तरों का भिन्न-भिन्न महत्त्व होता है। व्यापार-विनिमय में व्यापारी-व्यक्तियों द्वारा किये गये प्रश्नों का आध्यात्मिक महत्त्व नहीं हो सकता। विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों में उठने वाले प्रश्नों तथा उनके उत्तरों का अनुमान सम्बद्ध व्यक्तियों के बौद्धिक स्तर से लगाया जा सकता है। *भगवद्गीता* में जो विचार-विमर्श हुआ वह श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के बीच हुआ जो क्रमशः परम पुरुष तथा परम भक्त थे। भगवान् ने अर्जुन को अपना भक्त तथा मित्र स्वीकार किया ( *भगवद्गीता* ४.३ ), अतएव कोई भी विवेकवान व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि यह

विचार-विमर्श भक्तियोग के सिद्धान्त पर आधारित था। वास्तव में सम्पूर्ण भगवद्गीता भक्तियोग के सिद्धान्त पर ही आधारित है। कर्म तथा कर्मयोग में अन्तर है। कर्म तो कर्ता द्वारा फल के भोग हेतु नियमित कार्य है, किन्तु कर्मयोग भगवान् की तुष्टि हेतु भक्त द्वारा सम्पन्न किया गया कार्य है। कर्मयोग भक्ति पर अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करने पर आश्रित है, जबकि कर्म स्वयं कर्ता की इन्द्रियों को प्रसन्न करने पर आधारित है। श्रीमद्भागवत के अनुसार जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान के उच्च स्तर पर प्रश्न पूछना चाहता हो तो उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाने की सलाह दी जाती है। उस सामान्य व्यक्ति को, जिसे आध्यात्मिक बातों में कोई रुचि नहीं होती, फैशन के रूप में गुरु के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

महाराज परीक्षित, छात्र के रूप में ईश-विज्ञान समझने के प्रति जिज्ञासु थे और शुकदेव गोस्वामी दिव्य विज्ञान के प्रामाणिक गुरु थे। दोनों ही जानते थे कि विदुर तथा ऋषि मैत्रेय के द्वारा जिन विषयों पर विचार-विमर्श हुआ होगा वे उच्चस्तरीय रहे होंगे, अतएव महाराज परीक्षित को अपने गुरु से यह जानने के लिए अतीव उत्कण्ठा थी।

सूत उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्ठो राज्ञा परीक्षिता ।

प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस प्रकार; ऋषि-वर्यः—महान् ऋषि; अयम्—शुकदेव गोस्वामी; पृष्ठः—पूछे जाने पर; राज्ञा—राजा; परीक्षिता—महाराज परीक्षित द्वारा; प्रति—से; आह—कहा; तम्—उस राजा को; सु-बहु-वित्—अत्यन्त अनुभवी; प्रीत-आत्मा—पूर्ण तुष्टि; श्रूयताम्—कृपया सुनें; इति—इस प्रकार।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : महर्षि शुकदेव गोस्वामी अत्यन्त अनुभवी थे और राजा से प्रसन्न थे। अतः राजा द्वारा प्रश्न किये जाने पर उन्होंने उससे कहा; “कृपया इस विषय को ध्यानपूर्वक सुनें।”

श्रीशुक उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्

पुष्पन्न धर्मेण विनष्टदृष्टिः ।

भ्रातुर्यविष्टस्य सुतान्विबन्धून्

प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; तु—लेकिन; राजा—राजा धृतराष्ट्र; स्व-सुतान्—अपने पुत्रों को; असाधून्—बेईमान; पुष्पान्—पोषण करते हुए; न—कभी नहीं; धर्मेण—उचित मार्ग पर; विनष्ट-दृष्टिः—जिसकी अन्तःदृष्टि खो चुकी है; भ्रातुः—अपने भाई के; यविष्ठस्य—छोटे, सुतान्; सुतान्—पुत्रों को; विबन्धून्—अनाथ; प्रवेश्य—प्रवेश करा कर; लाक्षा—लाख के; भवने—घर में; ददाह—आग लगा दी।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : राजा धृतराष्ट्र अपने बेईमान पुत्रों का पालन-पोषण करने की अपवित्र इच्छाओं के वश में होकर अन्तर्दृष्टि खो चुका था और उसने अपने पितृविहीन भतीजों, पाण्डवों को जला डालने के लिए लाक्षागृह में आग लगा दी।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र जन्मान्ध था, किन्तु अपने बेईमान पुत्रों के समर्थन हेतु अपवित्र कार्य करने में उसका अन्धापन, दृष्टि के शारीरिक दोष से कहीं बड़ा था। दृष्टि की शारीरिक कमी से किसी की आध्यात्मिक प्रगति नहीं रुकती। किन्तु जब कोई कायिक रूप से स्वस्थ होते हुए भी आध्यात्मिक रूप से अन्धा होता है, तो वह अन्धापन मनुष्य जीवन के उन्नति-मार्ग में भयावह रूप से बाधक होता है।

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः

केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।

न वारयामास नृपः स्नुषायाः

स्वास्त्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; सभायाम्—सभा में; कुरु-देव-देव्याः—देवतुल्य युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी का; केश-अभिमर्शम्—उसके बाल पकड़ने के अपमान; सुत-कर्म—अपने पुत्र द्वारा किया गया कार्य; गर्ह्यम्—निन्दनीय; न—नहीं; वारयाम् आस—मना किया; नृपः—राजा; स्नुषायाः—अपनी पुत्रबधू के; स्वास्त्रैः—उसके अश्रुओं से; हरन्त्याः—धोती हुई; कुच-कुङ्कुमानि—अपने वक्षस्थल के कुंकुम को।

( इस ) राजा ने अपने पुत्र दुःशासन द्वारा देवतुल्य राजा युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी के बाल खींचने के निन्दनीय कार्य के लिए मना नहीं किया, यद्यपि उसके अश्रुओं से उसके वक्षस्थल का कुंकुम तक धुल गया था।

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः

सत्यावलम्बस्य वनं गतस्य ।

न याचतोऽदात्समयेन दायं

तमोजुषाणो यदजातशत्रोः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

द्यूते—जुआ खेलकर; तु—लेकिन; अधर्मेण—कुचाल से; जितस्य—पराजित; साधोः—सन्त पुरुष का; सत्य-अवलम्बस्य—जिसने सत्य को शरण बना लिया है; वनम्—जंगल; गतस्य—जाने वाले का; न—कभी नहीं; याचतः—माँगे जाने पर; अदात्—दिया; समयेन—समय आने पर; दायम्—उचित भाग; तमः-जुषाणः—मोह से अभिभूत; यत्—जितना; अजात-शत्रोः—जिसके कोई शत्रु न हो, उसका।

युधिष्ठिर, जो कि अजातशत्रु हैं, जुए में छलपूर्वक हरा दिये गये। किन्तु सत्य का व्रत लेने के कारण वे जंगल चले गये। समय पूरा होने पर जब वे वापस आये और जब उन्होंने साम्राज्य का अपना उचित भाग वापस करने की याचना की तो मोहग्रस्त धृतराष्ट्र ने देने से इनकार कर दिया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर अपने पिता के साम्राज्य के सही अधिकारी थे। किन्तु दुर्योधन इत्यादि अपने पुत्रों का पक्षपात करने के लिए महाराज युधिष्ठिर के ताऊ धृतराष्ट्र ने अपने भतीजों को उनके राज्याधिकार से वंचित करने के लिए अनेक छलपूर्ण युक्तियों का सहारा लिया। अन्त में पाण्डवों ने पाँचों भाइयों के लिए केवल पाँच गाँव माँगे, किन्तु अनधिकृत वंचको ने उससे भी इनकार कर दिया। इस घटना के फलस्वरूप कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ। अतः कुरुक्षेत्र का युद्ध पाण्डवों द्वारा नहीं, अपितु कौरवों द्वारा उकसाया गया था।

क्षत्रियों के रूप में पाण्डवों की सही जीविका तो एकमात्र शासन करना था, न कि कोई अन्य कार्य स्वीकार करना। एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य किसी भी परिस्थिति में अपनी जीविका के लिए नौकरी स्वीकार नहीं करेगा।

यदा च पार्थप्रहितः सभायां

जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः ।

न तानि पुंसाममृतायनानि

राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—भी; पार्थ-प्रहितः—अर्जुन द्वारा सलाह दिये जाने पर; सभायाम्—सभा में; जगत्-गुरुः—संसार के गुरु को; यानि—उन; जगाद—गया; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; न—कभी नहीं; तानि—शब्दों को; पुंसाम्—सभी विवेकवान् व्यक्तियों के; अमृत-अयनानि—अमृत तुल्य; राजा—राजा ( धृतराष्ट्र या दुर्योधन ); ऊरु—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; मेने—विचार किया; क्षत—क्षीण; पुण्य-लेशः—पुण्यकर्मों का अंश।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को जगद्गुरु के रूप में ( धृतराष्ट्र की ) सभा में भेजा था और यद्यपि उनके शब्द कुछेक व्यक्तियों ( यथा भीष्म ) द्वारा शुद्ध अमृत के रूप में सुने गये थे, किन्तु जो लोग पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के लेशमात्र से भी वंचित थे उन्हें वे वैसे नहीं लगे। राजा ( धृतराष्ट्र या दुर्योधन ) ने कृष्ण के शब्दों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया।

तात्पर्य : जगद्गुरु भगवान् कृष्ण ने दूतकार्य स्वीकार किया और अर्जुन द्वारा नियुक्त होकर वे शान्ति-मिशन में राजा धृतराष्ट्र की सभा में गये। कृष्ण सबों के स्वामी हैं फिर भी अर्जुन के दिव्य सखा

होने के कारण उन्होंने यह दूत-कर्म प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया मानो वे कोई सामान्य मित्र हों। अपने शुद्ध भक्तों के साथ भगवान् के बर्ताव का यही अनूठापन है। उन्होंने सभा में जाकर शान्ति के विषय में बातें कीं। इस सन्देश का आस्वाद भीष्म तथा अन्य प्रमुख जनों ने किया, क्योंकि यह सन्देश स्वयं भगवान् के मुख से निकला था। किन्तु पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के क्षीण होने से दुर्योधन अथवा उसके पिता धृतराष्ट्र ने इस सन्देश को गम्भीरता से नहीं लिया। जिन व्यक्तियों के पुण्य क्षीण हो जाते हैं, वे ऐसा ही करते हैं। कोई व्यक्ति अपने विगत पुण्यकर्मों के बल पर देश का राजा बन सकता है, किन्तु दुर्योधन तथा उसकी टोली के पुण्यकर्मों के फल क्षीण हो चुके थे, अतएव उनके कार्यों से स्पष्ट हो गया था कि वे पाण्डवों के पक्ष में अपना राज्य खोने वाले थे। ईश्वर का सन्देश भक्तों के लिए तो सदैव अमृततुल्य होता है, किन्तु अभक्तों के लिए यह बिल्कुल उल्टा होता है। मिश्री स्वस्थ व्यक्ति को सदैव मीठी लगती है, किन्तु पीलिया रोग से पीड़ित व्यक्ति को यह अत्यन्त तीखी लगती है।

यदोपहृतो भवनं प्रविष्टो

मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।

अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्

यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; उपहृतः—बुलाया गया; भवनम्—राजमहल में; प्रविष्टः—प्रवेश किया; मन्त्राय—मंत्रणा के लिए; पृष्टः—पूछे जाने पर; किल—निस्सन्देह; पूर्वजेन—बड़े भाई द्वारा; अथ—इस प्रकार; आह—कहा; तत्—वह; मन्त्र—उपदेश; दृशाम्—उपयुक्त; वरीयान्—श्रेष्ठतम; यत्—जो; मन्त्रिणः—राज्य के मंत्री अथवा पटु राजनीतिज्ञ; वैदुरिकम्—विदुर द्वारा उपदेश; वदन्ति—कहते हैं।

जब विदुर अपने ज्येष्ठ भ्राता ( धृतराष्ट्र ) द्वारा मंत्रणा के लिए बुलाये गये तो वे राजमहल में प्रविष्ट हुए और उन्होंने ऐसे उपदेश दिये जो उपयुक्त थे। उनका उपदेश सर्वविदित है और राज्य के दक्ष मन्त्रियों द्वारा अनुमोदित है।

तात्पर्य : विदुर द्वारा दिये गये राजनीति विषयक सुझाव पटु होते हैं, जिस तरह आधुनिक काल में राजनीतिक तथा आचरण-सम्बन्धी अनुदेशों के विषय में अच्छी सलाह के लिए चाणक्य पण्डित प्रमाण माने जाते हैं।

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं

तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।  
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः  
श्वसन्नुषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अजात-शत्रोः—युधिष्ठिर का, जिसका कोई शत्रु नहीं है; प्रतियच्छ—लौटा दो; दायम्—उचित भाग; तितिक्षतः—सहिष्णु का; दुर्विषहम्—असह्य; तव—तुम्हारा; आगः—अपराध; सह—सहित; अनुजः—छोटे भाइयों; यत्र—जिसमें; वृकोदर—भीम; अहिः—बदला लेने वाला सर्प; श्वसन्—उच्छ्वास भरा; रुषा—क्रोध में; यत्—जिससे; त्वम्—तुम; अलम्—निश्चय ही; बिभेषि—डरते हो।

[ विदुर ने कहा ] तुम्हें चाहिए कि युधिष्ठिर को उसका न्यायोचित भाग लौटा दो, क्योंकि उसका कोई शत्रु नहीं है और वह तुम्हारे अपराधों के कारण अकथनीय कष्ट सहन करता रहा है। वह अपने छोटे भाइयों सहित प्रतीक्षारत है जिनमें से प्रतिशोध की भावना से पूर्ण भीम सर्प की तरह उच्छ्वास ले रहा है। तुम निश्चय ही उससे भयभीत हो।

पार्थास्तु देवो भगवान्मुकुन्दो  
गृहीतवान्सक्षितिदेवदेवः ।  
आस्ते स्वपुर्या यदुदेवदेवो  
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पार्थान्—पृथा ( कुन्ति ) के पुत्रों को; तु—लेकिन; देवः—प्रभु; भगवान्—भगवान्; मुकुन्दः—मुक्तिदाता श्रीकृष्ण ने; गृहीतवान्—ग्रहण कर लिया है; स—सहित; क्षिति-देव-देवः—ब्राह्मण तथा देवता; आस्ते—उपस्थित है; स्व-पुर्याम्—अपने परिवार सहित; यदु-देव-देवः—यदुवंश के राजकुल द्वारा पूजित; विनिर्जित—जीते हुए; अशेष—असीम; नृदेव—राजा; देवः—स्वामी।

भगवान् कृष्ण ने पृथा के पुत्रों को अपना परिजन मान लिया है और संसार के सारे राजा श्रीकृष्ण के साथ हैं। वे अपने घर में अपने समस्त पारिवारिक जनों, यदुकुल के राजाओं तथा राजकुमारों के साथ, जिन्होंने असंख्य शासकों को जीत लिया है, उपस्थित हैं और वे उन सबों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : विदुर ने धृतराष्ट्र को पृथा के पुत्र, पाण्डवों के साथ राजनीतिक सन्धि करने की बहुत अच्छी सलाह दी। पहली बात जो उन्होंने कही वह यह थी कि भगवान् कृष्ण उनके फुफेरे भाई के रूप में उनके निकट सम्बन्धी हैं। चूँकि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतएव वे समस्त ब्राह्मणों तथा देवताओं द्वारा पूज्य हैं, जो ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों का नियंत्रण करते हैं। इसके साथ ही, भगवान् कृष्ण तथा उनके यदुवंशी पारिवारिक जन संसार के समस्त राजाओं के विजेता हैं।

क्षत्रियगण विभिन्न राज्यों के राजाओं से युद्ध करते थे और उन्हें हराकर उनकी सुन्दर राजकुमारियों का अपहरण कर लेते थे। यह प्रणाली प्रशंसनीय थी, क्योंकि क्षत्रियों तथा राजकुमारियों का विवाह विजेता क्षत्रिय की वीरता के आधार पर होता था। यदुवंश के समस्त राजकुमारों ने वीरता के बल पर इसी तरह से अन्य राजाओं की कन्याओं से विवाह किया था। इस तरह वे संसार के समस्त राजाओं के विजेता थे। विदुर अपने भाई के मन में यह बात बैठा देना चाहते थे कि पाण्डवों से युद्ध करना अनेक खतरों से पूर्ण है, क्योंकि उनकी सहायता श्रीकृष्ण कर रहे थे, जिन्होंने अपने बाल्यकाल में ही कंस तथा जरासन्ध जैसे असुरों को और ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवताओं को जीत लिया था। अतएव विश्व की सम्पूर्ण शक्ति पाण्डवों के साथ थी।

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते

गृहान्प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।

पुष्पासि कृष्णाद्विमुखो गतश्रीस्

त्यजाश्चशैवं कुलकौशलाय ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; दोषः—साक्षात् अपराध; पुरुष-द्विद्—श्रीकृष्ण का ईर्ष्यालु; आस्ते—विद्यमान है; गृहान्—घर में; प्रविष्टः—प्रवेश किया हुआ; यम्—जिसको; अपत्य-मत्या—अपना पुत्र सोचकर; पुष्पासि—पालन कर रहे हो; कृष्णात्—कृष्ण से; विमुखः—विरुद्ध; गत-श्रीः—प्रत्येक शुभ वस्तु से विहीन; त्यज—त्याग दो; आशु—यथाशीघ्र; अशैवम्—अशुभ; कुल—परिवार; कौशलाय—के हेतु।

तुम साक्षात् अपराध रूप दुर्योधन का पालन-पोषण अपने अच्युत पुत्र के रूप में कर रहे हो, किन्तु वह भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करता है। चूँकि तुम इस तरह से कृष्ण के अभक्त का पालन कर रहे हो, अतएव तुम समस्त शुभ गुणों से विहीन हो। तुम यथाशीघ्र इस दुर्भाग्य से छुटकारा पा लो और सारे परिवार का कल्याण करो।

तात्पर्य : अच्छा पुत्र अपत्य कहा जाता है अर्थात् वह पिता को नीचे नहीं गिरने देता। पिता के मरने पर पुत्र भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करके अपने पिता की आत्मा की रक्षा कर सकता है। यह प्रथा भारत में अब भी प्रचलित है। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र भगवान् विष्णु के चरणकमलों पर यज्ञ करने के लिए गया जाता है और इस तरह, पितापथच्युत यदि हो गया हो, पिताकी आत्मा का उद्धार करता है। किन्तु यदि पुत्र पहले से विष्णु का शत्रु हो तो भला ऐसे शत्रु भाव में वह भगवान् विष्णु के चरणकमलों में यज्ञ कैसे कर सकता है? श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष भगवान् विष्णु



हैं और दुर्योधन उनकी ओर शत्रुवत् था। अतएव वह अपने पिता धृतराष्ट्र की मृत्यु के बाद उसकी रक्षा नहीं कर सकता था। विष्णु की ओर अपनी श्रद्धा विहीनता के कारण, उसका तो स्वयं का पतन होना है। तो फिर वह अपने पिता की रक्षा कैसे कर सकेगा? विदुर ने धृतराष्ट्र को सलाह दी कि यदि वह अपने परिवार का कल्याण देखना चाहता है, तो यथाशीघ्र वह दुर्योधन जैसे अयोग्य पुत्र से अपना पिंड छुड़ा ले।

चाणक्य पण्डित के नीति-उपदेशों के अनुसार “ऐसे पुत्र से क्या लाभ जो न तो विद्वान है, न भगवद्भक्त?” यदि पुत्र भगवद्भक्त नहीं है, तो वह अंधे नेत्रों के समान पीड़ा का कारण होता है। कभी कभी चिकित्सक ऐसी व्यर्थ आँखों को उनके गोलकों से निकाल देने की सलाह देता है, जिससे निरन्तर पीड़ा से छुटकारा मिल सके। दुर्योधन अन्धे कष्टकारक नेत्रों के तुल्य था। वह धृतराष्ट्र के परिवार के लिए महान् विपदा का स्रोत होगा, जैसाकि विदुर ने पहले ही देख लिया था। अतः विदुर ने अपने ज्येष्ठ भ्राता को इस कष्ट के स्रोत से छुटकारा पाने की ठीक ही सलाह दी थी। धृतराष्ट्र ऐसे साक्षात् अपराध को इस भ्रमपूर्ण धारणा से पाल-पोस रहा था कि दुर्योधन अच्छा पुत्र है, जो अपने पिता को मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन

प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।

असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः

क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ऊचिवान्—कहते हुए; तत्र—वहाँ; सुयोधनेन—दुर्योधन द्वारा; प्रवृद्ध—फूला हुआ; कोप—क्रोध से; स्फुरित—फड़कते हुए; अधरेण—होंठों से; असत्-कृतः—अपमानित; सत्—सम्मानित; स्पृहणीय-शीलः—वांछित गुण; क्षत्ता—विदुर; स—सहित; कर्ण—कर्ण; अनुज—छोटे भाइयों; सौबलेन—शकुनि सहित।

विदुर जिनके चरित्र का सभी सम्मानित व्यक्ति आदर करते थे, जब इस तरह बोल रहे थे तो दुर्योधन द्वारा उनको अपमानित किया गया। दुर्योधन क्रोध के मारे फूला हुआ था और उसके होंठ फड़क रहे थे। दुर्योधन कर्ण, अपने छोटे भाइयों तथा अपने मामा शकुनी के साथ था।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मूर्ख व्यक्ति उपदेश देने पर क्रुद्ध होता है, जिस तरह सर्प को दूध पिलाने से उसका विष बढ़ता है। सन्त विदुर इतने आदरणीय थे कि सारे सम्मानित व्यक्ति उनके चरित्र

की ओर देखते थे। किन्तु दुर्योधन इतना मूर्ख था कि उसने विदुर का अपमान करने का दुस्साहस कर डाला। यह उसके मामा शकुनि तथा उसके मित्र कर्ण की कुसंगति का फल था, जो उसके दुष्कृत्यों में सदा ही उसे उकसाते रहते थे।

क एनमत्रोपजुहाव जिह्वं

दास्याः सुतं यद्वलिनैव पुष्टः ।

तस्मिन्प्रतीपः परकृत्य आस्ते

निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; एनम्—यह; अत्र—यहाँ; उपजुहाव—बुलाया; जिह्वाम्—कुटिल; दास्याः—रखैल के; सुतम्—पुत्र को; यत्—जिसके; बलिना—भरण से; एव—निश्चय ही; पुष्टः—बड़ा हुआ; तस्मिन्—उसको; प्रतीपः—शत्रुता; परकृत्य—शत्रु का हित; आस्ते—स्थित है; निर्वास्यताम्—बाहर निकालो; आशु—तुरन्त; पुरात्—महल से; श्वसानः—उसकी केवल साँस चलने दो।

“इस रखैल के पुत्र को यहाँ आने के लिए किसने कहा है? यह इतना कुटिल है कि जिनके बल पर यह बड़ा हुआ है उन्हीं के विरुद्ध शत्रु-हित में गुप्तचरी करता है। इसे तुरन्त इस महल से निकाल बाहर करो और इसकी केवल साँस भर चलने दो।”

तात्पर्य : विवाह करते समय क्षत्रिय राजा अन्य कई युवतियों को विवाहित राजकुमारी के साथ लेते जाते थे। राजा की ये युवती-परिचारिकाएँ दासी कहलाती थीं। ये दासियाँ राजा के सहवास से पुत्र उत्पन्न करती थीं। ऐसे पुत्र दासीपुत्र कहलाते थे। इनका राज सिंहासन पर कोई अधिकार नहीं होता था, किन्तु उन्हें भरणपोषण तथा अन्य सुविधाएँ राजकुमारों के ही समान प्राप्त रहती थीं। विदुर ऐसी ही एक दासी के पुत्र थे, अतएव उनकी गणना क्षत्रियों में नहीं की जाती थी। राजा धृतराष्ट्र अपने इस छोटे दासीपुत्र भाई से अत्यधिक स्नेह करता था और विदुर उसके महान् मित्र तथा दार्शनिक सलाहकार थे। दुर्योधन यह भलीभाँति जानता था कि विदुर महात्मा तथा हितैषी हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश उसने अपने निर्दोष चाचा को मर्माहत करने वाले कठोर शब्दों का प्रयोग किया था। दुर्योधन ने न केवल विदुर के जन्म पर कटाक्ष किया, अपितु उसे कृतघ्न भी कहा, क्योंकि वह युधिष्ठिर का समर्थक प्रतीत होता था जिसे दुर्योधन अपना शत्रु मानता था। उसने चाहा कि विदुर को तुरन्त महल से निकाल दिया जाय और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाय। यदि सम्भव होता तो वह उसके तब तक बेंत लगवाता जब तक उसके पास साँस के अतिरिक्त कुछ बाकी न बचता। उसने आरोप लगाया कि वह पाण्डवों का गुप्तचर

है, क्योंकि उसने धृतराष्ट्र को उनके पक्ष में सलाह दी थी। राजमहल के जीवन तथा कूटनीति की बारीकियों की ऐसी स्थिति होती है कि विदुर जैसे निर्दोष व्यक्ति पर भी गृहित आरोप लगाया जाता है और दण्डित किया जाता है। विदुर अपने भतीजे दुर्योधन के ऐसे अप्रत्याशित व्यवहार से आश्चर्यचकित थे और इसके पूर्व कि सचमुच कोई घटना घट जाए उन्होंने राजमहल को सदा के लिए त्यागने का निश्चय किया।

स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां

भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।

स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-

र्गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

स्वयम्—स्वयं; धनुः द्वारि—दरवाजे पर धनुष; निधाय—रखकर; मायाम्—माया, बाहरी प्रकृति को; भ्रातुः—भाई के; पुरः—राजमहल से; मर्मसु—अपने हृदय में; ताडितः—दुखी होकर; अपि—भी; सः—वह ( विदुर ); इत्थम्—इस तरह; अति-उल्बण—अत्यंत कठोरता से; कर्ण—कान; बाणैः—तीरों से; गत-व्यथः—दुखी हुए बिना; अयात्—उत्तेजित हुआ; ऊरु—अत्यधिक; मान-यानः—इस प्रकार विचारते हुए।

इस तरह अपने कानों से होकर वाणों द्वारा बेधे गये और अपने हृदय के भीतर मर्माहत विदुर ने अपना धनुष दरवाजे पर रख दिया और अपने भाई के महल को छोड़ दिया। उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि वे माया के कार्यों को सर्वोपरि मानते थे।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त ईश्वर की बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न विषम परिस्थिति से कभी विचलित नहीं होता। भगवद्गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

बद्धात्मा बहिरंगा शक्ति के विभिन्न गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत संसार में निमग्न रहता है। मिथ्या अहंकार में डूबा हुआ वह सोचता है कि हर कार्य वह स्वयं कर रहा है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति अर्थात् भौतिक प्रकृति पूरी तरह से परमेश्वर के अधीन है और बद्धात्मा बहिरंगा शक्ति के पूर्ण नियंत्रण में होता है। अतः बद्धजीव पूर्णतः भगवान् के नियमों के अधीन होता है। किन्तु केवल मायावश वह अपने को अपने कर्मों में स्वतंत्र मानता है। दुर्योधन बहिरंगा प्रकृति के ऐसे प्रभाव के अन्तर्गत कार्य कर रहा था जिसके फलस्वरूप अन्त में उसका सफाया हो जाएगा। उसने विदुर के परामर्श को नहीं माना,

उल्टे उन महात्मा को अपमानित किया, जो उसके सारे परिवार के हितैषी थे। विदुर इसे समझते थे, क्योंकि वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। दुर्योधन के वचनों से बुरी तरह अपमानित होने पर भी विदुर यह देख सके कि दुर्योधन माया (बहिरंगा शक्ति) के वश में होने से अपने ही विनाश के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतएव उन्होंने बहिरंगा शक्ति के कार्यों को सर्वोपरि माना; तथापि उन्होंने यह भी देखा कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति उस विशिष्ट स्थिति में किस तरह उनकी सहायता कर रही थी। भक्त सदैव विरक्त भाव से रहता है, क्योंकि सांसारिक आकर्षण उसको कभी तुष्ट नहीं कर पाते। विदुर कभी भी अपने भाई के राजमहल द्वारा आकृष्ट नहीं थे। वे सदैव उस राजमहल को त्याग कर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को पूरी तरह लगाने के लिए तैयार रहते थे। अब दुर्योधन की कृपा से उन्हें अवसर मिला था। अतः अपमान के कटु वचनों से दुखी होने की बजाय उन्होंने मन ही मन उसे धन्यवाद दिया, क्योंकि उसके कारण उन्हें पवित्र स्थान में अकेले रहने और भगवद्भक्ति में लगे रहने का अवसर प्राप्त हुआ। *गत-व्यथः* शब्द (बिना दुखी हुए) यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विदुर उन यातनाओं से मुक्त हो गये जिनसे भौतिक कार्यों में बँधा हुआ प्रत्येक व्यक्ति पीड़ित होता रहता है। अतएव उन्होंने सोचा कि धनुष के द्वारा अपने भाई की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि उसके भाई का विनाश तो निश्चित ही है। इसलिए इसके पूर्व कि दुर्योधन कोई कार्यवाही करे उन्होंने महल छोड़ दिया। यहाँ पर भगवान् की परम शक्ति माया ने अंदर से तथा बाहर से दोनों प्रकार से कार्य किया।

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो

गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि ।

अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्याम्

अधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ॥ १७ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह (विदुर); निर्गतः—छोड़ने के बाद; कौरव—कुरु वंश; पुण्य—पुण्य; लब्धः—प्राप्त किया हुआ; गज-आह्वयात्—हस्तिनापुर से; तीर्थ-पदः—भगवान् की; पदानि—तीर्थयात्राओं की; अन्वाक्रमत्—शरण ली; पुण्य—पुण्य; चिकीर्षया—ऐसी इच्छा करते हुए; उर्व्याम्—उच्चकोटि की; अधिष्ठितः—स्थित; यानि—वे सभी; सहस्र—हजारों; मूर्तिः—स्वरूप।

अपने पुण्य के द्वारा विदुर ने पुण्यात्मा कौरवों के सारे लाभ प्राप्त किये। उन्होंने हस्तिनापुर छोड़ने के बाद अनेक तीर्थस्थानों की शरण ग्रहण की जो कि भगवान् के चरणकमल हैं। उच्चकोटि का पवित्र जीवन पाने की इच्छा से उन्होंने उन पवित्र स्थानों की यात्रा की जहाँ

भगवान् के हजारों दिव्य रूप स्थित हैं।

तात्पर्य : विदुर निस्सन्देह अति उच्चोक्ति के पुण्यात्मा थे, अन्यथा वे कौरव वंश में उत्पन्न न हुए होते। उच्च कुल पाना ऐश्वर्यमय होना, उच्च विद्वान होना और शरीर से अति सुन्दर होना—ये सब विगत पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मिलते हैं। किन्तु भगवान् की कृपा पाने तथा उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने के लिए ऐसी पवित्र वस्तुएँ ही पर्याप्त नहीं हैं। विदुर अपने आपको कम पवित्र मानते थे, अतएव उन्होंने अधिक पुण्य प्राप्त करने तथा भगवान् के निकट पहुँचने के लिए संसार के सभी महान् तीर्थ स्थानों की यात्रा करने का निश्चय किया। उस समय यद्यपि भगवान् कृष्ण सदेह इस जगत में उपस्थित थे और विदुर तत्काल सीधे उनके पास पहुँच सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे पापों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। जब तक पाप के प्रभावों से पूरी तरह मुक्त न हो लिया जाय तब तक कोई मनुष्य भगवान् के प्रति शत प्रतिशत अनुरक्त नहीं हो सकता। विदुर को इसका भान था कि कूटनीतिज्ञ धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन की संगति के कारण उनका पुण्य समाप्त हो चुका है, अतएव वे तुरन्त ही भगवान् की संगति करने के योग्य नहीं हैं। *भगवद्गीता* (७.२८) में इसकी पुष्टि निम्नलिखित श्लोक में हुई है—

*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।*

*ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥*

कंस तथा जरासन्ध जैसे पापी असुर व्यक्ति सोच ही नहीं सकते कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परम सत्य हैं। केवल वे, जो शुद्ध भक्त हैं, जो शास्त्रों में निर्दिष्ट धार्मिक जीवन के नियामक सिद्धान्तों का पालन करते हैं, अपने को कर्मयोग में, तत्पश्चात् ज्ञानयोग में लगा पाते हैं और उसके बाद शुद्ध ध्यान द्वारा विशुद्ध चेतना को समझ सकते हैं। ईशचेतना (भावनामृत) उत्पन्न होने पर मनुष्य शुद्ध भक्तों की संगति का लाभ उठा सकता है। *स्यान् महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्*—इसी जीवन काल में भगवान् की संगति की जा सकती है।

तीर्थ स्थान तीर्थयात्रियों के पापों का निवारण करने के निमित्त होते हैं और शुद्ध जीवन तथा ईश-साक्षात्कार प्राप्त करने वालों की सुविधा के लिए ये तीर्थस्थान ब्रह्माण्ड भर में फैल हुए हैं। किन्तु मनुष्य को केवल तीर्थस्थानों में जाने तथा अपने नियत कर्मों को करने से ही तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।

उसे उन महात्माओं से मिलने के लिए उत्सुक रहना चाहिए जो पहले से वहाँ भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं, प्रत्येक तीर्थस्थान में भगवान् अपने विविध दिव्य स्वरूपों में वर्तमान रहते हैं।

ये स्वरूप *अर्चामूर्ति* कहलाते हैं—अर्थात् भगवान् के वे रूप जिन्हें सामान्य व्यक्ति आसानी से समझ सकता है। भगवान् हमारी सांसारिक इन्द्रियों के लिए अगम्य हैं। वे हमारी वर्तमान आँखों से देखे नहीं जा सकते हैं, न ही वे हमारे वर्तमान कानों से सुने जा सकते हैं। हम उस मात्रा में जितना कि हम भगवत्सेवा में प्रविष्ट हो चुके हैं या उस अनुपात में जितना हमारे जीवन पापों से मुक्त हुए रहते हैं, भगवान् का अनुभव कर सकते हैं। किन्तु यद्यपि हम पापों से मुक्त नहीं होते, भगवान् इतने कृपालु हैं कि वे मन्दिर में अपनी अर्चामूर्तियों के रूप में हमें अपना दर्शन देने की सुविधा प्रदान करते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अपना अर्चा रूप प्रस्तुत करके हमारी सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए किसी को यह सोचने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए कि मन्दिर का *अर्चारूप* एक मूर्ति है। ऐसी *अर्चामूर्ति* मूर्ति नहीं, अपितु स्वयं भगवान् होती है और जो जिस अनुपात में पापों से मुक्त हुआ होता है, उसी के अनुसार वह अर्चामूर्ति के महत्त्व को समझ सकता है। अतएव मार्गदर्शन पाने के लिए किसी शुद्ध भक्त की आवश्यकता सदैव बनी रहती है।

भारतवर्ष में देश भर में लाखों तीर्थस्थल फैले हुए हैं और परम्परानुसार सामान्य व्यक्ति वर्ष की सारी ऋतुओं में इन पवित्र स्थानों की यात्रा करता है। विभिन्न तीर्थस्थानों में स्थित कतिपय अर्चा स्वरूपों का उल्लेख इस प्रकार है : वे मथुरा में (कृष्ण का जन्मस्थान) आदिकेशव रूप में, पुरी (उड़ीसा) में भगवान् जगन्नाथ (पुरुषोत्तम भी) के रूप में, इलाहाबाद (प्रयाग) में बिन्दु-माधव के रूप में, मन्दराचल में मधुसूदन रूप में, आनन्दारण्य में वासुदेव, पद्मनाभ, तथा जनार्दन रूप में, विष्णुकाञ्ची में विष्णु रूप में तथा मायापुर में हरि रूप में विराजमान हैं। ब्रह्माण्ड भर में भगवान् की ऐसी करोड़ों अर्चामूर्तियाँ हैं। इन समस्त अर्चामूर्तियों का सारांश *चैतन्य-चरितामृत* में इस प्रकार दिया हुआ है—

*सर्वत्र प्रकाश तारं—भक्ते सुख दिते।*

*जगतेर अधर्म नाशि' धर्म स्थापिते ॥*

“भगवान् ने अपने को ब्रह्माण्ड भर में इस तरह फैला रखा है, जिससे भक्तों को आनन्द मिले,

सामान्य जनों को अपने पापों से निवारण करने की सुविधा प्राप्त हो तथा संसार में धर्म की स्थापना की जा सके।”

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-

ष्वपङ्क्तोयेषु सरित्सरःसु ।

अनन्तलिङ्गैः समलङ्क तेषु

चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥ १८ ॥

#### शब्दार्थ

पुरेषु—अयोध्या, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थानों में; पुण्य—पुण्य; उप-वन—वायु; अद्रि—पर्वत; कुञ्जेषु—बगीचों में; अपङ्क्त—पापरहित; तोयेषु—जल में; सरित्—नदी; सरःसु—झीलों में; अनन्त-लिङ्गैः—अनन्त के रूपों; समलङ्क तेषु—इस तरह से अलंकृत किये गये; चचार—सम्पन्न किया; तीर्थ—तीर्थस्थान; आयतनेषु—पवित्र भूमि; अनन्यः—एकमात्र या केवल कृष्ण का दर्शन करना।

वे एकमात्र कृष्ण का चिन्तन करते हुए अकेले ही विविध पवित्र स्थानों यथा अयोध्या, द्वारका तथा मथुरा से होते हुए यात्रा करने निकल पड़े। उन्होंने ऐसे स्थानों की यात्रा की जहाँ की वायु, पर्वत, बगीचे, नदियाँ तथा झीलें शुद्ध तथा निष्पाप थीं और जहाँ अनन्त के विग्रह मन्दिरों की शोभा बढ़ाते हैं। इस तरह उन्होंने तीर्थयात्रा की प्रगति सम्पन्न की।

तात्पर्य : भगवान् के अर्चारूपों को नास्तिक जन मूर्तियाँ मान सकते हैं, किन्तु विदुर या उनके अन्य अनेक सेवक ऐसा नहीं मानते। भगवान् के स्वरूपों का उल्लेख यहाँ पर *अनन्त लिंग* के रूप में हुआ है। भगवान् के ऐसे रूपों में असीम शक्ति होती है, जो स्वयं भगवान् जैसी ही होती है। अर्चा की शक्तियों तथा भगवान् के साकार रूपों की शक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। यहाँ पर पत्रपेटी (पोस्ट बाक्स) तथा डाकघर (पोस्ट आफिस) का उदाहरण लागू होता है। शहर भर में लगी छोटी छोटी पत्रपेटियों में सार्वजनिक डाक व्यवस्था के समान ही शक्ति होती है। डाकघर का कार्य पत्रों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाना है। यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक डाकघर द्वारा मान्य पत्रपेटियों में पत्र डालता है, तो पत्र ले जाने का कार्य निश्चित रूप से सम्पन्न होता है। इसी तरह *अर्चामूर्ति* भगवान् के साक्षात् उपस्थित होने जैसी असीम शक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए विदुर को विविध अर्चारूपों में कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखा और अन्ततः वे एकमात्र कृष्ण का साक्षात्कार कर सके, अन्य किसी का नहीं।

गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः

सदाप्लुतोऽधः शयनोऽवधूतः ।

अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो

व्रतानि चरे हरितोषणानि ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटन्—भ्रमण करते; मेध्य—शुद्ध; विविक्त-वृत्तिः—जीने के लिए स्वतंत्र पेशा; सदा—सदैव; आप्लुतः—पवित्र किया गया; अधः—पृथ्वी पर; शयनः—लेटे हुए; अवधूतः—( बाल, नाखून इत्यादि ) बिना सँवारे या कटे. ); अलक्षितः—किसी के द्वारा बिना देखे हुए; स्वैः—अकेले; अवधूत-वेषः—साधू की तरह वेश धारण किये; व्रतानि—व्रत; चरे—सम्पन्न किया; हरि-तोषणानि—भगवान् को प्रसन्न करने वाले।

इस तरह पृथ्वी का भ्रमण करते हुए उन्होंने भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए कृतकार्य किये। उनकी वृत्ति शुद्ध एवं स्वतंत्र थी। वे पवित्र स्थानों में स्नान करके निरन्तर शुद्ध होते रहे, यद्यपि वे अवधूत वेश में थे—न तो उनके बाल सँवारे हुए थे न ही लेटने के लिए उनके पास बिस्तर था। इस तरह वे अपने तमाम परिजनों से अलक्षित रहे।

तात्पर्य : तीर्थयात्री का सर्वप्रमुख कर्तव्य (कृतकार्य) भगवान् हरि को प्रसन्न करना है। तीर्थयात्रा करते समय उसे समाज की प्रसन्नता की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उसे सामाजिक औपचारिकताओं या वृत्ति या वेश पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे सदा भगवान् को प्रसन्न करने वाले कार्य में लीन रहना चाहिए। इस तरह विचार तथा कर्म से शुद्ध हुआ तीर्थयात्री तीर्थ यात्रा की विधि से परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है।

इत्थं व्रजभारतमेव वर्ष

कालेन यावद्गतवान्प्रभासम् ।

तावच्छशास क्षितिमेक चक्रा-

मेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; व्रजन्—विचरण करते हुए; भारतम्—भारत; एव—केवल; वर्षम्—भूखण्ड; कालेन—यथासमय; यावत्—जब; गतवान्—गया; प्रभासम्—प्रभास तीर्थस्थान; तावत्—तब; शशास—शासन किया; क्षितिम्—पृथ्वी पर; एक-चक्राम्—एक सैन्य बल से; एक—एक; आतपत्राम्—ध्वजा; अजितेन—अजित कृष्ण की कृपा से; पार्थः—महाराज युधिष्ठिर।

इस तरह जब वे भारतवर्ष की भूमि में समस्त तीर्थस्थलों का भ्रमण कर रहे थे तो वे प्रभास क्षेत्र गये। उस समय महाराज युधिष्ठिर सम्राट थे और वे सारे जगत को एक सैन्य शक्ति तथा एक ध्वजा के अन्तर्गत किये हुए थे।



**तात्पर्य** : पाँच हजार से अधिक वर्ष पूर्व जब सन्त विदुर तीर्थयात्री के रूप में पृथ्वी का भ्रमण कर रहे थे तो 'इण्डिया' भारतवर्ष के नाम से विख्यात था, जैसाकि आज भी है। विश्व इतिहास भूत काल के तीन हजार वर्षों से अधिक का क्रमबद्ध विवरण नहीं दे सकता, किन्तु उसके पूर्व सारा संसार महाराज युधिष्ठिर के ध्वज एवं सैन्य शक्ति के अधीन था और वे संसार के सम्राट (चक्रवर्ती राजा) थे। आज के समय में संयुक्त राष्ट्र में सैकड़ों हजारों ध्वज फहराते हैं, किन्तु विदुर के समय, भगवान् कृष्ण अर्थात् अजित की कृपा से, केवल एक ध्वज था। संसार के सारे राष्ट्र पुनः एक ध्वज के नीचे एक सत्ता के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं, किन्तु इसके लिए उन्हें भगवान् कृष्ण की कृपा प्राप्त करनी होगी, क्योंकि केवल वे ही एक विश्वव्यापी राष्ट्र बनाने में सहायक बन सकते हैं।

तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं

वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम् ।

संस्पर्धया दग्धमथानुशोचन्

सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम् ॥ २१ ॥

**शब्दार्थ**

तत्र—वहाँ; अथ—तत्पश्चात्; शुश्राव—सुना; सुहृत्—प्रियजन; विनष्टिम्—मृत; वनम्—जंगल; यथा—जिस तरह; वेणुज-वह्नि—बाँस के कारण लगी अग्नि; संश्रयम्—एक दूसरे से घर्षण; संस्पर्धया—उग्र कामेच्छा द्वारा; दग्धम्—जला हुआ; अथ—इस प्रकार; अनुशोचन्—सोचते हुए; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; प्रत्यक्—पश्चिम की ओर; इयाय—गया; तूष्णीम्—मौन होकर।

प्रभास तीर्थ स्थान में उन्हें पता चला कि उनके सारे सम्बन्धी उग्र आवेश के कारण उसी तरह मारे जा चुके हैं जिस तरह बाँसों के घर्षण से उत्पन्न अग्नि सारे जंगल को जला देती है। इसके बाद वे पश्चिम की ओर बढ़ते गये जहाँ सरस्वती नदी बहती है।

**तात्पर्य** : कौरव तथा यादवगण दोनों ही विदुर के सम्बन्धी थे। विदुर ने बन्धुघाती युद्ध के फलस्वरूप उनके सर्वनाश का समाचार सुना। जंगली बाँसों के घर्षण की तुलना आवेशपूर्ण (विक्षुब्ध) मानव समाज से करना उपयुक्त है। सम्पूर्ण संसार की तुलना जंगल से की गई है। जंगल में घर्षण के कारण किसी भी क्षण आग भड़क सकती है। जंगल में कोई आग लगाने नहीं जाता, किन्तु बाँसों के बीच संघर्षण मात्र से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो सारे जंगल को जला डालती है। इसी तरह सांसारिक मेरा-तेरा रूपी महत्तर जंगल में माया के द्वारा मोहित बद्ध आत्माओं के उग्र आवेश के कारण युद्ध रूपी अग्नि लग जाती है। ऐसी सांसारिक अग्नि सन्तों की कृपा रूपी बादल के जल से ही बुझाई

जा सकती है, जिस तरह जंगल की आग केवल बादल से बरसने वाली वर्षा से बुझाई जा सकती है।

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च  
 पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः ।  
 तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य  
 यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

तस्याम्—सरस्वती नदी के किनारे; त्रितस्य—त्रित नामक तीर्थस्थल; उशनसः—उशना नामक तीर्थस्थल; मनोः च—मनु नामक तीर्थस्थल भी; पृथोः—पृथु के; अथ—तत्पश्चात्; अग्नेः—अग्नि के; असितस्य—असित के; वायोः—वायु के; तीर्थम्—तीर्थस्थान; सुदासस्य—सुदास नाम का; गवाम्—गो नामक; गुहस्य—तथा गुह का; यत्—तत्पश्चात्; श्राद्धदेवस्य—श्राद्धदेव का; सः—विदुर ने; आसिषेवे—ठीक से देखा और कर्मकाण्ड किया।

सरस्वती नदी के तट पर ग्यारह तीर्थस्थल थे जिनके नाम हैं ( १ ) त्रित ( २ ) उशना ( ३ ) मनु ( ४ ) पृथु ( ५ ) अग्नि ( ६ ) असित ( ७ ) वायु ( ८ ) सुदास ( ९ ) गो ( १० ) गुह तथा ( ११ ) श्राद्धदेव। विदुर इन सबों में गये और ठीक से कर्मकाण्ड किये।

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः  
 कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।  
 प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि  
 यद्दर्शनात्कृष्णामनुस्मरन्ति ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

अन्यानि—अन्य; च—तथा; इह—यहाँ; द्विज-देव—महर्षियों द्वारा; देवैः—तथा देवताओं द्वारा; कृतानि—स्थापित; नाना—विविध; आयतनानि—विविध रूप; विष्णोः—भगवान् के; प्रति—प्रत्येक; अङ्ग—अंग; मुख्य—प्रमुख; अङ्कित—चिह्नित; मन्दिराणि—मन्दिर; यत्—जिनके; दर्शनात्—दूर से देखने से; कृष्णाम्—आदि भगवान् को; अनुस्मरन्ति—निरन्तर स्मरण कराते हैं।

वहाँ महर्षियों तथा देवताओं द्वारा स्थापित किये गये पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के विविध रूपों से युक्त अनेक अन्य मन्दिर भी थे। ये मन्दिर भगवान् के प्रमुख प्रतीकों से अंकित थे और आदि भगवान् श्रीकृष्ण का सदैव स्मरण कराने वाले थे।

तात्पर्य : मानव समाज चार सामाजिक वर्णों तथा चार आध्यात्मिक प्रयागों में विभाजित है, जो प्रत्येक मनुष्य पर लागू होता है। यह प्रणाली वर्णाश्रम धर्म कहलाती है और इस महान् ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इसकी व्याख्या की जा चुकी है। साधु सन्त या वे व्यक्ति जो सम्पूर्ण मानव समाज के आध्यात्मिक उत्थान में पूर्णतः लगे रहते थे द्विज देव कहलाते थे, अर्थात् द्विजों में सर्वश्रेष्ठ। चन्द्रलोक से ऊपर के

उत्कृष्ट लोकों के वासी देव कहलाते थे। द्विजदेव तथा देव दोनों ही विष्णु के विविध स्वरूपों वाले, यथा गोविन्द, मधुसूदन, नृसिंह, माधव, केशव, नारायण, पद्मनाभ, पार्थसारथी आदि नामों वाले मन्दिरों की स्थापना करते हैं। भगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं, किन्तु वे सभी रूप एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। भगवान् विष्णु के चार हाथ रहते हैं और प्रत्येक हाथ में विशेष वस्तु—यथा शंख, चक्र, गदा या कमल का फूल रहता है। इन चार चिह्नों में से चक्र प्रमुख है; आदि विष्णु रूप होने से कृष्ण के एक ही चिह्न, चक्र, होता है, इसीलिए कभी-कभी उनको चक्री भी कहा जाता है। भगवान् का चक्र शक्ति का प्रतीक है, जिससे वे सारे जगत का नियंत्रण करते हैं। विष्णु मन्दिरों के शिखरों पर चक्र का प्रतीक रहता है, जिससे लोग दूर से इस प्रतीक को देख सकें और तुरन्त भगवान् कृष्ण का स्मरण कर सकें। अत्यन्त ऊँचे मन्दिरों के निर्माण का उद्देश्य लोगों को दूर से दर्शन करने का सुयोग प्रदान करना है। भारत में जब भी कोई नया मन्दिर बनाया जाता है, तो यही शैली अपनायी जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि लिखित इतिहास के पहले से ही यह शैली चली आ रही है। नास्तिकों द्वारा किये जाने वाले इस मूर्खतापूर्ण प्रचार का कि मन्दिरों का निर्माण बाद में हुआ, यहाँ पर खण्डन हो जाता है, क्योंकि कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व विदुर ने इन मन्दिरों को देखा था और विष्णु के ये मन्दिर विदुर द्वारा देखे जाने के बहुत पहले से विद्यमान थे। महर्षियों तथा देवताओं ने कभी भी मनुष्यों या देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित नहीं कीं, किन्तु सामान्य लोगों के लाभार्थ, उन्हें ईशभावनामृत के स्तर तक उठाने के लिए, उन्होंने विष्णु मन्दिरों की स्थापना की।

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं

सौवीरमत्स्यान्कुरुजाङ्गलांश्च ।

कालेन तावद्यमुनामुपेत्य

तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ से; तु—लेकिन; अतिव्रज्य—पार करके; सुराष्ट्रम्—सूरत का राज्य; ऋद्धम्—अत्यन्त धनवान्; सौवीर—सौवीर, साम्राज्य; मत्स्यान्—मत्स्य साम्राज्य; कुरुजाङ्गलान्—दिल्ली प्रान्त तक फैला पश्चिमी भारत का साम्राज्य; च—भी; कालेन—यथासमय; तावत्—ज्योंही; यमुनाम्—यमुना नदी के किनारे; उपेत्य—पहुँच कर; तत्र—वहाँ; उद्धवम्—यदुओं में प्रमुख, उद्धव को; भागवतम्—भगवान् कृष्ण के भक्त; ददर्श—देखा।

तत्पश्चात् वे अत्यन्त धनवान् प्रान्तों यथा सूरत, सौवीर और मत्स्य से होकर तथा कुरुजांगल नाम से विख्यात पश्चिमी भारत से होकर गुजरे। अन्त में वे यमुना के तट पर पहुँचे जहाँ उनकी

भेंट कृष्ण के महान् भक्त उद्धव से हुई।

**तात्पर्य :** आधुनिक दिल्ली से लेकर उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले तक का लगभग एक सौ वर्गमील का भूखण्ड जिसमें हरियाणा प्रदेश के गुड़गाँव जिले का कुछ अंश सम्मिलित हैं इन्हें सारे भारत में तीर्थयात्रा के लिए सर्वोपरि स्थान माना जाता है। यह भूभाग पवित्र है, क्योंकि भगवान् कृष्ण ने इस भूभाग की कई बार यात्रा की थी। अपने आविर्भाव काल से अपने मामा कंस के वहाँ पैदा होकर वे वृन्दावन में अपने पालक पिता महाराज नन्द के यहाँ पले। आज भी वहाँ पर भगवान् के कई भक्त कृष्ण तथा उनकी बाल सहेलियों, गोपियों, की खोज में भाव-विभोर होकर रह रहे हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे भक्त उस भूभाग में कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, किन्तु भक्त का उत्सुकतापूर्वक कृष्ण की खोज करते रहना उनके साक्षात् दर्शन करने के ही समान है। ऐसा कैसे है ? इसकी व्याख्या तो नहीं की जा सकती है, किन्तु जो भगवान् के शुद्ध भक्त हैं उनके द्वारा ऐसा अनुभव किया जाता है। दार्शनिक रूप से मनुष्य यह समझ सकता है कि भगवान् कृष्ण तथा उनकी स्मृति परम स्तर पर होती है और शुद्ध ईशचेतना में वृन्दावन में उनकी खोज करने का विचार उनके साक्षात् दर्शन करने की अपेक्षा अपने में भक्त को अधिक आनन्द प्रदान करने वाला है। ऐसे भगवद्भक्त उनका दर्शन प्रतिक्षण करते हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में हुई है—

*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*

*सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।*

*यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥*

“जो लोग भगवान् श्यामसुन्दर (कृष्ण) से भावाविष्ट प्रेम करते हैं, वे भगवान् के प्रति प्रेम तथा अपनी भक्ति के कारण उन्हें सदैव अपने हृदयों में देखते हैं।” विदुर तथा उद्धव दोनों ही ऐसे उच्चस्थ भक्त थे, अतएव दोनों ही यमुना के तट पर आ पहुँचे और एक दूसरे से मिले।

**स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं**

**बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम् ।**

**आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं**

स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

सः—वह, विदुर; वासुदेव—कृष्ण का; अनुचरम्—नित्य संगी; प्रशान्तम्—अत्यन्त शान्त एवं सौम्य; बृहस्पतेः—देवताओं के विद्वान गुरु बृहस्पति का; प्राक्—पूर्वकाल में; तनयम्—पुत्र या शिष्य; प्रतीतम्—स्वीकार किया; आलिङ्ग्य—आलिङ्गन करके; गाढम्—गहराई से; प्रणयेन—प्रेम में; भद्रम्—शुभ; स्वानाम्—निजी; अपृच्छत्—पूछा; भगवत्—भगवान् के; प्रजानाम्—परिवार का।

तत्पश्चात् अत्यधिक प्रेम तथा अनुभूति के कारण विदुर ने भगवान् कृष्ण के नित्य संगी तथा बृहस्पति के पूर्व महान् शिष्य उद्धव का आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् विदुर ने भगवान् कृष्ण के परिवार का समाचार पूछा।

तात्पर्य : विदुर उद्धव से आयु में बड़े थे, पितृतुल्य थे, अतएव जब दोनों मिले तो उद्धव ने विदुर को शीश झुकाया और विदुर ने उद्धव का आलिङ्गन किया, क्योंकि उद्धव छोटे थे, अतएव पुत्रतुल्य थे। विदुर के भाई पाण्डु कृष्ण के फूफा थे और उद्धव कृष्ण के चचेरे भाई थे। अतएव सामाजिक प्रथा के अनुसार विदुर का सम्मान उद्धव द्वारा पिता के स्तर पर होना चाहिए था। उद्धव तर्कशास्त्र के महान् विद्वान थे और वे देवताओं के गुरु तथा परम विद्वान पुरोहित बृहस्पति के शिष्य के रूप में विख्यात थे। विदुर ने उद्धव से उनके सम्बन्धियों की कुशलता के विषय में पूछा, यद्यपि उन्हें ज्ञात था कि वे सब इस लोक में नहीं रहे। यह जिज्ञासा अजीब लगती है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि यह समाचार विदुर के लिए आघात था इसीलिए उन्होंने अतीव उत्कण्ठावश पुनः पूछा। उनकी यह जिज्ञासा मनोवैज्ञानिक ही थी, व्यावहारिक नहीं।

कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-

पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीणौ ।

आसात उर्व्याः कुशलं विधाय

कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ॥ २६ ॥

### शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; पुराणौ—आदि; पुरुषौ—दो भगवान् ( कृष्ण तथा बलराम ); स्वनाभ्य—ब्रह्मा; पाद्म-अनुवृत्त्या—कमल से उत्पन्न होने वाले के अनुरोध पर; इह—यहाँ; किल—निश्चय ही; अवतीणौ—अवतरित; आसाते—हैं; उर्व्याः—जगत में; कुशलम्—कुशल-क्षेम; विधाय—ऐसा करने के लिए; कृत-क्षणौ—हर एक की सम्पन्नता के उन्नायक; कुशलम्—सर्वमंगल; शूर-गेहे—शूरसेन के घर में।

[ कृपया मुझे बतलाएँ ] कि ( भगवान् की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न ) ब्रह्मा के अनुरोध पर अवतरित होने वाले दोनों आदि भगवान्, जिन्होंने हर व्यक्ति को ऊपर उठा कर

सम्पन्नता में वृद्धि की है, शूरसेन के घर में ठीक से तो रह रहे हैं ?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण तथा बलराम दो पृथक्-पृथक् भगवान् नहीं हैं। ईश्वर अद्वितीय हैं, किन्तु वे अनेक रूपों में, जो एक दूसरे से भिन्न नहीं होते, अपना विस्तार करते हैं। ये सभी स्वांश होते हैं। कृष्ण के निकटतम अंश बलदेव हैं और गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न ब्रह्मा बलदेव के अंश हैं। यह सूचित करता है कि कृष्ण तथा बलदेव पर ब्रह्माण्ड के विधि-विधान लागू नहीं होते। उल्टे, सारा ब्रह्माण्ड उनके अधीन है। वे ब्रह्मा की प्रार्थना पर संसार का भार हटाने के लिए प्रकट हुए थे और उन्होंने अनेक अतिमानवीय कार्यों द्वारा संसार को इससे छुटकारा दिलाया जिससे हर व्यक्ति सुखी तथा सम्पन्न हो सका। भगवत्कृपा के बिना कोई व्यक्ति सुखी तथा सम्पन्न नहीं हो सकता। चूँकि भगवान् के भक्तों के परिवार का सुख भगवान् के सुख पर निर्भर करता है, अतएव विदुर ने सबसे पहले भगवान् की कुशल-क्षेम पूछी।

कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो

भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः ।

यो वै स्वसृणां पितृवद्ददाति

वरान्वदान्यो वरतर्पणेन ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; कुरूणाम्—कुरुओं के; परमः—सबसे बड़े; सुहृत्—शुभचिन्तक; नः—हमारा; भामः—बहनोई; सः—वह; आस्ते—है; सुखम्—सुखी; अङ्ग—हे उद्भव; शौरिः—वसुदेव; यः—जो; वै—निस्सन्देह; स्वसृणाम्—बहनों का; पितृ-वत्—पिता के समान; ददाति—देता है; वरान्—इच्छित वस्तुएँ; वदान्यः—अत्यन्त उदार; वर—स्त्री; तर्पणेन—प्रसन्न करके।

[ कृपया मुझे बताएँ ] कि कुरुओं के सबसे अच्छे मित्र हमारे बहनोई वसुदेव कुशलतापूर्वक तो हैं? वे अत्यन्त दयालु हैं। वे अपनी बहनों के प्रति पिता के तुल्य हैं और अपनी पत्नियों के प्रति सदैव हँसमुख रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव के सोलह पत्नियाँ थीं जिनमें से एक का नाम पौरवी या रोहिणी था, जो बलदेव की माता थीं और विदुर की बहिन थीं। इसीलिए वसुदेव विदुर की बहिन के पति थे और वे दोनों साले-बहनोई थे। वसुदेव की बहन कुन्ती विदुर के बड़े भाई पाण्डु की पत्नी थीं और उस तरह से भी वसुदेव विदुर के साले थे। कुन्ती वसुदेव से छोटी थीं और बड़े भाई का कर्तव्य है कि वह अपनी छोटी बहिनों को पुत्रियों के समान माने। जब भी कुन्ती को किसी भी प्रकार की

आवश्यकता पड़ती तो वसुदेव अपनी छोटी बहिन के प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण उसे उदारतापूर्वक प्रदान करते थे। वसुदेव ने अपनी पत्नियों को कभी असन्तुष्ट नहीं होने दिया और साथ ही साथ वे अपनी बहिन को इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते रहे। वे कुन्ती का विशेष ध्यान रखते, क्योंकि वे अल्पायु में ही विधवा हो चुकी थीं। वसुदेव की कुशलता पूछते समय विदुर को ये सारी बातें तथा पारिवारिक सम्बन्ध स्मरण हो आये।

कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां

प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः ।

यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे

आराध्य विप्रान्स्मरमादिसर्गे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; वरूथ—सेना का; अधिपतिः—नायक; यदूनाम्—यदुओं का; प्रद्युम्नः—कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न; आस्ते—है; सुखम्—सुखी; अङ्ग—हे उद्भव; वीरः—महान् योद्धा; यम्—जिसको; रुक्मिणी—कृष्ण की पत्नी, रुक्मिणी ने; भगवतः—भगवान् से; अभिलेभे—पुरस्कारस्वरूप प्राप्त किया; आराध्य—प्रसन्न करके; विप्रान्—ब्राह्मणों को; स्मरम्—कामदेव; आदि-सर्गे—अपने पूर्व जन्म में।

हे उद्भव, मुझे बताओ कि यदुओं का सेनानायक प्रद्युम्न, जो पूर्वजन्म में कामदेव था, कैसा है? रुक्मिणी ने ब्राह्मणों को प्रसन्न करके उनकी कृपा से भगवान् कृष्ण से अपने पुत्र रूपमें उसे उत्पन्न किया था।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार स्मर (कामदेव) भगवान् कृष्ण के नित्यसंगियों में से है। इसकी व्याख्या उन्होंने अपने भाष्य कृष्ण सन्दर्भ में विस्तार से की है।

कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोज-

दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।

यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो

नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; सुखम्—सब कुशल मंगल है; सात्वत—सात्वत जाति; वृष्णि—वृष्णि वंश; भोज—भोज वंश; दाशार्हकाणाम्—दाशार्ह जाति; अधिपः—राजा उग्रसेन; सः—वह; आस्ते—है; यम्—जिसको; अभ्यषिञ्चत्—प्रतिष्ठित; शत-पत्र-नेत्रः—श्रीकृष्ण ने; नृप-आसन-आशाम्—राजसिंहासन की आशा; परिहृत्य—त्याग कर; दूरात्—दूरस्थान पर।

हे मित्र, ( मुझे बताओ ) क्या सात्वतों, वृष्णियों, भोजों तथा दाशार्हों के राजा उग्रसेन अब

कुशल-मंगल तो हैं? वे अपने राजसिंहासन की सारी आशाएँ त्यागकर अपने साम्राज्य से दूर चले गये थे, किन्तु भगवान् कृष्ण ने पुनः उन्हें प्रतिष्ठित किया।

कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष  
 आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।  
 असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या  
 देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥ ३० ॥

#### शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; हरेः—भगवान् का; सौम्य—हे गम्भीर; सुतः—पुत्र; सदृक्षः—समान; आस्ते—ठीक से रह रहा है; अग्रणीः—अग्रगण्य; रथिनाम्—योद्धाओं के; साधु—अच्छे आचरण वाला; साम्बः—साम्ब; असूत—जन्म दिया; यम्—जिसको; जाम्बवती—कृष्ण की पत्नी जाम्बवती ने; व्रताढ्या—व्रतों से सम्पन्न; देवम्—देवता; गुहम्—कार्तिकेय नामक; यः—जिसको; अम्बिकया—शिव की पत्नी से; धृतः—उत्पन्न; अग्रे—पूर्व जन्म में।

हे भद्रपुरुष, साम्ब ठीक से तो है? वह भगवान् के पुत्र सदृश ही है। पूर्वजन्म में वह शिव की पत्नी के गर्भ से कार्तिकेय के रूप में जन्मा था और अब वही कृष्ण की अत्यन्त सौभाग्यशालिनी पत्नी जाम्बवती के गर्भ से उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : भगवान् के तीन गुणावतारों में शिव भगवान् के स्वांश हैं। उनसे उत्पन्न कार्तिकेय भगवान् कृष्ण के अन्य पुत्र प्रद्युम्न के ही समकक्ष है। जब भगवान् कृष्ण भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो उनके सभी स्वांश भी उनके साथ उनके विभिन्न कार्यों को प्रकट करने हेतु उत्पन्न होते हैं। किन्तु वृन्दावन की लीलाओं के अतिरिक्त भगवान् के सारे कार्य उनके विभिन्न स्वांशों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। वासुदेव नारायण के स्वांश हैं, अतः जब भगवान् देवकी तथा वसुदेव के समक्ष वासुदेव रूप में प्रकट हुए तो वे अपने नारायण के रूप में ही प्रकट हुए। इसी तरह स्वर्ग के सारे देवता प्रद्युम्न, साम्ब, उद्धव इत्यादि भगवान् के संगियों के रूप में प्रकट हुए। इस श्लोक से यह समझा जा सकता है कि कामदेव प्रद्युम्न के रूप में, कार्तिकेय साम्ब के रूप में और वसुओं में से एक वसु उद्धव के रूप में प्रकट हुए। इन सबों ने भगवान् की लीलाओं को सम्बर्धित करने के लिए विभिन्न पदों पर रहकर सेवा की।

क्षेमं स कच्चिद्युधान आस्ते  
 यः फाल्गुनाल्लब्धनूरहस्यः ।



लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव

गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥ ३१ ॥

### शब्दार्थ

क्षेमम्—सर्वमंगल; सः—वह; कच्चित्—क्या; युयुधानः—सात्यकि; आस्ते—है; यः—जिसने; फाल्गुनात्—अर्जुन से; लब्ध—प्राप्त किया है; धनुः-रहस्यः—सैन्यकला के भेदों का जानकार; लेभे—प्राप्त किया है; अञ्जसा—भलीभाँति; अधोक्षज—ब्रह्म का; सेवया—सेवा से; एव—निश्चय ही; गतिम्—गन्तव्य; तदीयाम्—दिव्य; यतिभिः—बड़े-बड़े संन्यासियों द्वारा; दुरापाम्—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन।

हे उद्धव, क्या युयुधान कुशल से? उसने अर्जुन से सैन्य कला की जटिलताएँ सीखीं और उस दिव्य गन्तव्य को प्राप्त किया जिस तक बड़े-बड़े संन्यासी भी बहुत कठिनाई से पहुँच पाते हैं।

**तात्पर्य** : अध्यात्म का गन्तव्य है भगवान् अधोक्षज का, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे हैं, पार्षद बन जाना। ब्रह्मसुख का आनन्द प्राप्त करने के लिए संन्यासी लोग समस्त सांसारिक सम्बन्धों को, यथा परिवार, पत्नी, सन्तान, मित्र, घर, सम्पत्ति, को त्याग देते हैं। किन्तु अधोक्षज सुख ब्रह्मसुख से बढ़कर है। ज्ञानीजन परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन करते हुए आनन्द के दिव्य गुण का भोग करते हैं, किन्तु इस आनन्द के परे वह सुख है, जिसका भोग भगवान् का नित्य स्वरूप ब्रह्म करता है। जीवों द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग भवबन्धन से मोक्ष पाने के बाद ही हो पाता है। किन्तु परब्रह्म अपनी ही शक्ति का, जिसे ह्लादिनी शक्ति कहते हैं, नित्य आनन्द भोग करता है। ज्ञानी, जो कि बाह्य गुणों के निषेध द्वारा ब्रह्म का अध्ययन करता है, ब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति को नहीं समझ पाता। सर्वशक्तिमान की अनेक शक्तियों में उनकी अन्तरंगा शक्ति के तीन रूप हैं—ये हैं संवित, सन्धिनी तथा ह्लादिनी। महान् योगी तथा ज्ञानीजन यम, नियम, आसन, ध्यान, धारणा तथा प्राणायाम के नियमों का दृढ़ता से पालन करने पर भी भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में प्रवेश नहीं कर पाते। किन्तु भगवद्भक्तों को भक्ति के बल पर इस अन्तरंगा शक्ति की अनुभूति सहज ही हो जाती है। युयुधान जीवन की इस अवस्था को उसी तरह प्राप्त कर चुका था जिस तरह उसने अर्जुन से सैन्यविज्ञान का पटु ज्ञान प्राप्त किया था। इस तरह उसका जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा सफल था। भगवान् की भक्ति का यही मार्ग है।

कच्चिद्बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते

श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।

यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसु-

ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥ ३२ ॥

### शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; बुधः—अत्यन्त विद्वान्; स्वस्ति—ठीक से; अनमीवः—त्रुटिरहित; आस्ते—है; श्वफल्क-पुत्रः—श्वफल्क का पुत्र अक्रूर; भगवत्—भगवान् के; प्रपन्नः—शरणागत; यः—वह जो; कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण; पाद-अङ्कित—चरणचिह्नों से शोभित; मार्ग—रास्ता; पांसुषु—धूल में; अचेष्टत—प्रकट किया; प्रेम-विभिन्न—दिव्य प्रेम में निमग्न; धैर्यः—मानसिक संतुलन।

कृपया मुझे बताएँ कि श्वफल्क पुत्र अक्रूर ठीक से तो है? वह भगवान् का शरणागत एक दोषरहित आत्मा है। उसने एक बार दिव्य प्रेम-भाव में अपना मानसिक सन्तुलन खो दिया था और उस मार्ग की धूल में गिर पड़ा था जिसमें भगवान् कृष्ण के पदचिह्न अंकित थे।

तात्पर्य : जब अक्रूर कृष्ण की खोज में वृन्दावन आये तो उन्होंने नन्दग्राम की धूलि में भगवान् के चरणचिह्न देखे और वे भावावेश में तुरन्त ही उन पर गिर पड़े। यह भाव उसी भक्त में सम्भव है, जो कृष्ण के सतत विचारों में पूर्णतया निमग्न हो। भगवान् का ऐसा शुद्ध भक्त स्वभावतः दोष रहित होता है, क्योंकि वह परम रूप से शुद्ध भगवान् से सदैव सम्बद्ध रहता है। भगवान् का निरन्तर ध्यान करना भौतिक गुणों के दूषण से अपने को मुक्त रखने की प्रतिसंदूषण विधि है। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के विषय में सोचते रहने के कारण सदैव उनकी संगति में रहता है। तो भी देश तथा काल के विशेष सन्दर्भ में दिव्य भावानाएँ विभिन्न मोड़ लेती हैं और इससे भक्त का मानसिक सन्तुलन डगमगा जाता है। भगवान् चैतन्य ने दिव्य भाव का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया जैसाकि ईश्वर के इस अवतार के जीवन से हम समझ पाते हैं।

कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या

विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।

या वै स्वगर्भेण दधार देवं

त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; शिवम्—ठीकठाक; देवक-भोज-पुत्र्याः—राजा देवक भोज की पुत्री का; विष्णु-प्रजायाः—भगवान् को जन्म देने वाली; इव—सदृश; देव-मातुः—देवताओं की माता ( अदिति ) का; या—जो; वै—निस्सन्देह; स्व-गर्भेण—अपने गर्भ से; दधार—धारण किया; देवम्—भगवान् को; त्रयी—वेद; यथा—जितना कि; यज्ञ-वितानम्—यज्ञ के प्रसार का; अर्थम्—उद्देश्य।

जिस तरह सारे वेद याज्ञिक कार्यों के आगार हैं उसी तरह राजा देवक-भोज की पुत्री ने

देवताओं की माता के ही सदृश भगवान् को अपने गर्भ में धारण किया। क्या वह ( देवकी ) कुशल से है ?

तात्पर्य : सारे वेद दिव्य ज्ञान तथा आध्यात्मिक मूल्यों से परिपूर्ण हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण की माता देवकी ने वेदों के साक्षात् अर्थ रूप में भगवान् को अपने गर्भ में धारण किया। वेदों में तथा भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। वेदों का उद्देश्य भगवान् को समझना है और भगवान् साक्षात् वेद हैं। देवकी की तुलना अर्थपूर्ण वेदों से तथा भगवान् की तुलना उनके उद्देश्य से की गई है।

अपिस्विदास्ते भगवान्सुखं वो

यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।

यमामनन्ति स्म हि शब्दयोनिं

मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

अपि—भी; स्वित्—क्या; आस्ते—है; भगवान्—भगवान्; सुखम्—समस्त सुख; वः—तुम्हारा; यः—जो; सात्वताम्—भक्तों की; काम-दुघः—समस्त इच्छाओं का स्रोत; अनिरुद्धः—स्वांश अनिरुद्ध; यम्—जिसको; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; स्म—प्राचीन काल से; हि—निश्चय ही; शब्द-योनिम्—ऋग्वेद का कारण; मनः-मयम्—मन का स्रष्टा; सत्त्व—दिव्य; तुरीय—चौथा विस्तार; तत्त्वम्—तत्त्व, सिद्धान्त।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि अनिरुद्ध कुशलतापूर्वक है? वह शुद्ध भक्तों की समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने वाला है और प्राचीन काल से ऋग्वेद का कारण, मन का स्रष्टा तथा विष्णु का चौथा स्वांश माना जाता रहा है।

तात्पर्य : आदि चतुर्भुज (व्यूह) बलदेव के आदि अंश वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध हैं। ये सभी विष्णु-तत्त्व हैं। श्रीराम के अवतार में ये सारे के सारे अंश विशिष्ट लीलाओं के लिए प्रकट हुए। भगवान् राम आदि वासुदेव हैं और संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध उनके भाई थे। अनिरुद्ध महाविष्णु के कारण भी हैं जिनके श्वास से ऋग्वेद प्रकट हुआ। मार्कण्डेय पुराण में इसकी सुन्दर ढंग से व्याख्या हुई है। भगवान् कृष्ण के अवतार में अनिरुद्ध उनके पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। द्वारका में भगवान् कृष्ण आदि व्यूह के वासुदेव अंश हैं। आदि भगवान् कृष्ण गोलोक वृन्दावन कभी नहीं छोड़ते। समस्त स्वांश एक ही विष्णुतत्त्व हैं और उनकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं है।

अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-

मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।  
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्णा  
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥ ३५ ॥

#### शब्दार्थ

अपि—भी; स्वित्—क्या; अन्ये—अन्य; च—तथा; निज-आत्म—अपने ही; दैवम्—श्रीकृष्ण; अनन्य—पूर्णरूपेण; वृत्त्या—श्रद्धा; समनुव्रता:—अनुयायीगण; ये—वे जो; हृदीक—हृदीक; सत्य-आत्मज—सत्यभामा का पुत्र; चारुदेष्णा—चारुदेष्णा; गद—गद; आदयः—इत्यादि; स्वस्ति—कुशलतापूर्वक; चरन्ति—समय बिताते हैं; सौम्य—हे भद्र:पुरुष।

हे भद्र पुरुष, अन्य लोग, यथा हृदीक, चारुदेष्णा, गद तथा सत्यभामा का पुत्र जो श्रीकृष्ण को अपनी आत्मा के रूप में मानते हैं और बिना किसी विचलन के उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं-ठीक से तो हैं?

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां  
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।  
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां  
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥ ३६ ॥

#### शब्दार्थ

अपि—भी; स्व-दोर्भ्याम्—अपनी भुजाएँ; विजय—अर्जुन; अच्युता-भ्याम्—श्रीकृष्ण समेत; धर्मेण—धर्म द्वारा; धर्मः—राजा युधिष्ठिर; परिपाति—पालनपोषण करता है; सेतुम्—धर्म का सम्मान; दुर्योधनः—दुर्योधन; अतप्यत—ईर्ष्या करता था; यत्—जिसका; सभायाम्—राज दरबार; साम्राज्य—राजसी; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य; विजय-अनुवृत्त्या—अर्जुन की सेवा द्वारा।

अब मैं पूछना चाहूँगा कि महाराज युधिष्ठिर धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार तथा धर्मपथ के प्रति सम्मान सहित राज्य का पालन-पोषण कर तो रहे हैं? पहले तो दुर्योधन ईर्ष्या से जलता रहता था, क्योंकि युधिष्ठिर कृष्ण तथा अर्जुन रूपी दो बाहुओं के द्वारा रक्षित रहते थे जैसे वे उनकी अपनी ही भुजाएँ हों।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर धर्म के प्रतीक थे। जब वे भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन की सहायता से अपने साम्राज्य पर शासन करते थे तो उनके साम्राज्य का ऐश्वर्य स्वर्ग के भी ऐश्वर्य की सभी कल्पनाओं को मात कर चुका था। उनकी असली बाहें तो भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन थे। इस तरह वे हर एक के ऐश्वर्य से बहुत आगे थे। दुर्योधन इस ऐश्वर्य से ईर्ष्या करता था, अतएव उसने युधिष्ठिर को संकट में डालने के लिए अनेक चालें चलीं और अन्त में कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ। कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर एक बार फिर से अपने वैध साम्राज्य पर शासन कर सके तथा उन्होंने धर्म के प्रति सम्मान तथा आदर भाव की पुनर्स्थापना की। महाराज युधिष्ठिर जैसे पुण्यात्मा राजा द्वारा शासित साम्राज्य की यही

शोभा है।

किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी  
भीमोऽहिवदीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।  
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे  
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ॥ ३७ ॥

**शब्दार्थ**

किम्—क्या; वा—अथवा; कृत—सम्पन्न; अघेषु—पापियों के प्रति; अघम्—क्रुद्ध; अति-अमर्षी—अजेय; भीमः—भीम;  
अहि-वत्—काले सर्प की भाँति; दीर्घ-तमम्—दीर्घ काल से; व्यमुञ्चत्—विमुक्त किया; यस्य—जिसका; अङ्घ्रि-पातम्—  
पदचाप; रण-भूः—युद्ध भूमि; न—नहीं; सेहे—सह सका; मार्गम्—मार्ग; गदायाः—गदाओं द्वारा; चरतः—चलाते हुए;  
विचित्रम्—विचित्र।

[ कृपया मुझे बताएँ ] क्या विषैले सर्प तुल्य एवं अजेय भीम ने पापियों पर अपना दीर्घकालीन क्रोध बाहर निकाल दिया है? गदा-चालन के उसके कौशल को रण-भूमि भी सहन नहीं कर सकती थी, जब वह उस पथ पर चल पड़ता था।

तात्पर्य : भीम के बल से विदुर परिचित थे। जब भी भीम युद्धक्षेत्र में होता तो पथ पर उसकी पदचाप तथा उसके अद्भुत गदा-कौशल शत्रु के लिए असह्य होते। बलशाली भीम ने लम्बे समय तक धृतराष्ट्र के पुत्रों के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया। विदुर की जिज्ञासा थी कि क्या उसने अभी तक सताये हुए विषैले सर्प की भाँति अपना क्रोध बाहर निकाला है? जब सर्प लम्बेसमय से पनप रहे क्रोध के पश्चात् अपना विष छोड़ता है, तो शिकार जीवित नहीं रह सकता।

कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां  
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।  
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो  
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥ ३८ ॥

**शब्दार्थ**

कच्चित्—क्या; यशः-धा—विख्यात; रथ-यूथपानाम्—महान् रथियों के बीच; गाण्डीव—गाण्डीव; धन्व—धनुष; उपरत-  
अरिः—जिसने शत्रुओं का विनाश कर दिया है; आस्ते—ठीक से है; अलक्षितः—बिना पहचाने हुए; यत्—जिसका; शर-कूट-  
गूढः—बाणों से आच्छादित होकर; माया-किरातः—छद्म शिकारी; गिरिशः—शिवजी; तुतोष—सन्तुष्ट हो गये थे।

[ कृपया मुझे बताएँ ] कि अर्जुन, जिसके धनुष का नाम गाण्डीव है और जो अपने शत्रुओं का विनाश करने में रथियों में सदैव विख्यात है, ठीक से तो है? एक बार उसने न पहचाने जानेवाले छद्म शिकारी के रूप में आये हुए शिवजी को बाणों की बौछार करके उन्हें तुष्ट किया

था।

**तात्पर्य :** शिवजी ने अर्जुन के बल की परीक्षा एक सुअर के शिकार को लेकर हुए झगड़े के द्वारा ली। उन्होंने शिकारी के छद्म वेश में अर्जुन का सामना किया। अर्जुन उन्हें तब तक बाणों से आच्छादित करता रहा जब तक कि वे अर्जुन के युद्ध से तुष्ट नहीं हो गये उन्होंने अर्जुन को पाशुपति अस्त्र दिया और आशीर्वाद दिया। यहाँ पर विदुर इसी महान् योद्धा की कुशलक्षेत्र के विषय में पूछ रहे हैं।

यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः

पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।

रेमात उद्वाय मृधे स्वरिक्थं

परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ॥ ३९ ॥

**शब्दार्थ**

यमौ—जुड़वाँ ( नकुल तथा सहदेव ); उतस्वित्—क्या; तनयौ—पुत्र; पृथायाः—पृथा के; पार्थैः—पृथा के पुत्रों द्वारा; वृतौ—संरक्षित; पक्ष्मभिः—पलकों द्वारा; अक्षिणी—आँखों के; इव—सदृश; रेमाते—असावधानीपूर्वक खेलते हुए; उद्वाय—छीन कर; मृधे—युद्ध में; स्व-रिक्थम्—अपनी सम्पत्ति; परात्—शत्रु दुर्योधन से; सुपर्णौ—विष्णु का वाहन गरुड़; इव—सदृश; वज्रिवक्त्रात्—इन्द्र के मुख से।

क्या अपने भाइयों के संरक्षण में रह रहे जुड़वाँ भाई कुशल पूर्वक हैं? जिस तरह आँख पलक द्वारा सदैव सुरक्षित रहती है उसी तरह वे पृथा पुत्रों द्वारा संरक्षित हैं जिन्होंने अपने शत्रु दुर्योधन के हाथों से अपना न्यायसंगत साम्राज्य उसी तरह छीन लिया है, जिस तरह गरुड़ ने वज्रधारी इन्द्र के मुख से अमृत छीन लिया था।

**तात्पर्य :** स्वर्ग का राजा इन्द्र अपने हाथ में वज्र धारण करता है और अत्यन्त बलशाली है, किन्तु भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ ने उसके मुख से अमृत छीन लिया था। इसी तरह दुर्योधन स्वर्ग के राजा के ही समान बलशाली था फिर भी पृथापुत्र पाण्डव दुर्योधन से अपना साम्राज्य छीनने में सफल रहे। गरुड़ तथा पार्थगण दोनों ही लाड़ले भगवद्भक्त हैं, इसीलिए वे ऐसे प्रबल शत्रुओं का सामना कर सके।

विदुर की जिज्ञासा पाण्डवों के सबसे छोटे दो भाइयों नकुल तथा सहदेव के विषय में थी। ये जुड़वाँ भाई माद्री के पुत्र थे, जो अन्य पाण्डवों की विमाता थी। जब माद्री अपने पति महाराज पाण्डु के साथ प्रयाण कर गई तो कुन्ती ने उनका भार सँभाला था। यद्यपि ये सौतेले भाई थे, किन्तु नकुल तथा सहदेव अन्य तीन पाण्डवों अर्थात् युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन के ही समान थे। ये पाँचों भाई विश्व में

सगे भाईयों के रूप में विख्यात हैं। तीनों ज्येष्ठ पाण्डवों ने अपने छोटे भाइयों की उसी तरह देखरेख की जिस तरह आँख की रखवाली पलक करती है। विदुर यह जानने के लिए उत्सुक थे कि दुर्योधन के हाथों से अपना साम्राज्य जीत लेने के बाद पाण्डवों के छोटे भाई बड़े भाइयों के संरक्षण में सुखपूर्वक तो रह रहे हैं।

अहो पृथापि धियतेऽर्भकार्थे  
 राजर्षिवर्येण विनापि तेन ।  
 यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये  
 धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

अहो—ओह; पृथा—कुन्ती; अपि—भी; धियते—अपना जीवन बिताती है; अर्भक-अर्थ—पितृविहीन बच्चों के निमित्त;  
 राजर्षि—राजा पाण्डु; वर्येण—सर्वश्रेष्ठ; विना अपि—बिना भी; तेन—उसके; यः—जो; तु—लेकिन; एक—अकेला; वीरः—  
 योद्धा; अधिरथः—सेनानायक; विजिग्ये—जीत सका; धनुः—धनुष; द्वितीयः—दूसरा; ककुभः—दिशाएँ; चतस्रः—चारों।

हे स्वामी, क्या पृथा अब भी जीवित है? वह अपने पितृविहीन बालकों के निमित्त ही जीवित रही अन्यथा राजा पाण्डु के बिना उसका जीवित रह पाना असम्भव था, जो कि महानतम सेनानायक थे और जिन्होंने अकेले ही अपने दूसरे धनुष के बल पर चारों दिशाएँ जीत ली थीं।

तात्पर्य : एक पतिव्रता पत्नी अपने स्वामी अर्थात् पति के बिना जीवित नहीं रह सकती, इसीलिए समस्त विधवाएँ स्वेच्छा से उस प्रज्वलित अग्नि को गले लगाती थीं जो मृत पति को भस्म कर देती थी। भारत में यह अत्यन्त सामान्य प्रथा थी, क्योंकि सारी पत्नियाँ सती तथा पतिव्रता होती थीं। बाद में, कलियुग के आगमन के साथ ही पत्नियों का पतिपरायण होना कम होता गया और विधवाओं द्वारा स्वेच्छा से अग्निदाह अब अतीत की बात हो गई है। अभी थोड़े ही वर्षों पूर्व यह प्रथा समाप्त कर दी गई, क्योंकि स्वेच्छिक प्रथा ने बलात् सामाजिक प्रथा का रूप धारण कर लिया था।

जब महाराज पाण्डु मरे तो उनकी दोनों ही पत्नियाँ, माद्री तथा कुन्ती, अग्निदाह के लिए तैयार थीं, किन्तु माद्री ने कुन्ती से अनुरोध किया कि वे पाँच पाण्डवों के, जो छोटे बच्चे ही थे, निमित्त जीवित रहें। जब व्यासदेव ने भी यही आग्रह किया, तो कुन्ती ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। अतिशय विछोह के बावजूद कुन्ती ने अपने पति की अनुपस्थिति में जीवन का भोग करने के लिए नहीं, अपितु बच्चों को संरक्षण प्रदान करने के लिए जीवित रहने का निश्चय किया। विदुर इसी घटना

का प्रसंग दे रहे हैं, क्योंकि वे अपनी भावज कुन्तीदेवी के विषय में सारी बातें जानते थे। यह ज्ञात होता है कि महाराज पाण्डु महान् योद्धा थे और उन्होंने धनुषबाण की सहायता से अकेले ही विश्व की चारों दिशाओं को जीता था। ऐसे पति की अनुपस्थिति में कुन्ती के लिए विधवा के रूप में भी जीवित रहना असम्भव था, तो भी पाँच पुत्रों के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा।

सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं

भ्रात्रे परेताय विदुद्गुहे यः ।

निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या

अहं स्वपुत्रान्समनुव्रतेन ॥ ४१ ॥

### शब्दार्थ

सौम्य—हे भद्रपुरुष; अनुशोचे—शोक करता हूँ; तम्—उसको; अधः-पतन्तम्—नीचे गिरते हुए; भ्रात्रे—अपने भाई पर; परेताय—मृत्यु; विदुद्गुहे—विद्रोह किया; यः—जिसने; निर्यापितः—भगा दिया गया; येन—जिसके द्वारा; सुहृत्—शुभैषी; स्व-पुर्याः—अपने ही घर से; अहम्—मैं; स्व-पुत्रान्—अपने पुत्रों समेत; समनु-व्रतेन—वैसी ही कार्यवाही को स्वीकार करते हुए।

हे भद्रपुरुष, मैं तो एकमात्र उस ( धृतराष्ट्र ) के लिए शोक कर रहा हूँ जिसने अपने भाई की मृत्यु के बाद उसके प्रति विद्रोह किया। उसका निष्ठावान हितैषी होते हुए भी उसके द्वारा मैं अपने घर से निकाल दिया गया, क्योंकि उसने भी अपने पुत्रों के द्वारा अपनाए गये मार्ग का ही अनुसरण किया था।

तात्पर्य : विदुर ने अपने जेष्ठ भ्राता की कुशलता के बारे में नहीं पूछा, क्योंकि उसके कल्याण का कोई अवसर नहीं था, उसके अधःपतित होने का ही समाचार हो सकता था। विदुर धृतराष्ट्र के निष्ठावान हितैषी थे और उनके मन के भीतर उसके विषय में एक विचार था। उन्होंने शोक व्यक्त किया कि धृतराष्ट्र ने अपने मृत भ्राता पाण्डु के पुत्रों के विरुद्ध विद्रोह कर सकता था और यह की उसने अपने कुटिल पुत्रों के आदेश पर उन्हें ही (विदुर को) उनके घर से निकाल दिया। इन कार्यों के बावजूद विदुर कभी भी धृतराष्ट्र के शत्रु नहीं बने, प्रत्युत उसके हितैषी बने रहे, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र के अन्तिम दिनों में विदुर ही उसके एकमात्र असली मित्र सिद्ध हुए। विदुर जैसे वैष्णव का आचरण ही ऐसा होता है—वह अपने शत्रुओं का भी भला सोचता है।

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन



दृशो नृणां चालयतो विधातुः ।

नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-

च्चरामि पश्यन्नातविस्मयोऽत्र ॥ ४२ ॥

### शब्दार्थ

सः अहम्—इसलिए मैं; हरेः—भगवान् का; मर्त्य—इस मर्त्यलोक में; विडम्बनेन—बिना जाने-पहचाने; दृशः—देखने पर; नृणाम्—सामान्य लोगों के; चालयतः—मोहग्रस्त; विधातुः—इसे करने के लिए; न—नहीं; अन्य—दूसरा; उपलक्ष्यः—दूसरों द्वारा देखा गया; पदवीम्—महिमा; प्रसादात्—कृपा से; चरामि—घूमता हूँ; पश्यन्—देखते हुए; गत-विस्मयः—बिना संशय के; अत्र—इस मामले में।

अन्यों द्वारा अलक्षित रहकर विश्वभर में भ्रमण करने के बाद मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा। भगवान् के कार्यकलाप जो इस मर्त्यलोक के मनुष्य जैसे हैं, अन्यों को मोहित करने वाले हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से मैं उनकी महानता को जानता हूँ, अतएव मैं सभी प्रकार से सुखी हूँ।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र का भाई होते हुए भी विदुर सर्वथा भिन्न थे। भगवान् कृष्ण की कृपा से वे अपने भाई की तरह मूर्ख न थे, अतएव भाई की संगति उन पर प्रभाव नहीं डाल पाई। धृतराष्ट्र तथा उसके भौतिकतावादी पुत्र अपने बल से विश्व पर अपना झूठा दबदबा बनाना चाह रहे थे। इसमें भगवान् ने उन्हें प्रोत्साहित किया इस प्रकार वे अधिकाधिक मोहग्रस्त होते रहे। किन्तु विदुर तो भगवान् की निष्ठायुक्त भक्ति चाहते थे, अतएव उन्होंने पूरी तरह से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर ली। वे अपनी तीर्थयात्रा के समय इसका अनुभव कर पाये, फलतः वे समस्त संशयों से मुक्त हो गये। उन्हें अपने घर-बार से वंचित होने का तनिक भी खेद न था, क्योंकि अब उन्हें अनुभव हो रहा था कि भगवान् की कृपा पर आश्रित रहना घर पर रहने की तथाकथित स्वतंत्रता से कहीं बढ़कर है। मनुष्य को तब तक संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिए जब तक उसे पूर्णविश्वास न हो ले कि वह भगवान् द्वारा रक्षित है। *भगवद्गीता* में जीवन की इस अवस्था को *अभयं सत्त्वसंशुद्धिः* कहा गया है—प्रत्येक जीव वस्तुतः भगवत्कृपा पर पूर्णतया आश्रित है, किन्तु शुद्ध जीवन प्राप्त किये बिना वह इस पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। यह आश्रित अवस्था *सत्त्वसंशुद्धिः* कहलाती है। ऐसी संशुद्धि का फल निर्भीकता में प्रकट होता है। भगवद्भक्त जो कि *नारायण-पर* कहलाता है कभी किसी वस्तु से भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह इस तथ्य से सदैव अवगत रहता है कि सभी परिस्थितियों में भगवान् उसकी रक्षा करेंगे। इसी संकल्प के साथ विदुर अकेले ही यात्रा कर रहे थे और उन्हें न तो किसी मित्र ने न किसी शत्रु ने

देखा अथवा पहचाना था। इस तरह वे संसार के अनेक कर्तव्यों को करने के लिए बाध्य हुए बिना जीवन की स्वतंत्रता का उपभोग कर पाए थे।

जब भगवान् श्रीकृष्ण इस मर्त्यलोक में अपने नित्य आनन्दमय श्यामसुन्दर रूप में उपस्थित थे तो जो लोग भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं थे वे न तो उन्हें पहचान सके, न उनकी महिमा को जान पाये। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्* ( *भगवद्गीता* ९.११ )—वे अभक्तों को सदैव मोहित करने वाले हैं, किन्तु भक्तगण भगवान् की शुद्ध भक्ति के कारण उन्हें सदैव देख सकते हैं।

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां

महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।

वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशो-

ऽप्युपैक्षताघं भगवान्कुरुणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; नृपाणाम्—राजाओं के; त्रि—तीन; मद-उत्पथानाम्—मिथ्या गर्व से बहके हुए; महीम्—पृथ्वी को; मुहुः—निरन्तर; चालयताम्—क्षुब्ध करते; चमूभिः—सैनिकों की गति से; वधात्—हत्या के कार्य से; प्रपन्न—शरणागत; आर्ति-जिहीर्षय—पीड़ितों के दुख को दूर करने के लिए इच्छुक; ईशः—भगवान् ने; अपि—के बावजूद; उपैक्षत—प्रतीक्षा की; अघम्—अपराध; भगवान्—भगवान्; कुरुणाम्—कुरुओं के।

( कृष्ण ) भगवान् होते हुए भी तथा पीड़ितों के दुख को सदैव दूर करने की इच्छा रखते हुए भी, वे कुरुओं का वध करने से अपने को बचाते रहे, यद्यपि वे देख रहे थे कि उन लोगों ने सभी प्रकार के पाप किये हैं और यह भी देख रहे थे कि, अन्य राजा तीन प्रकार के मिथ्या गर्व के वश में होकर अपनी प्रबल सैन्य गतिविधियों से पृथ्वी को निरन्तर क्षुब्ध कर रहे हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में घोषणा की गई है भगवान् इस मर्त्यलोक में दुष्टों का वध करने तथा पीड़ित श्रद्धावानों की रक्षा करने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रकट होते हैं। इस उद्देश्य के बावजूद भगवान् कृष्ण कौरवों द्वारा द्रौपदी के अपमान को तथा पाण्डवों के प्रति किये जा रहे अन्याय के साथ-साथ अपने अपमान को सहते रहे। यह प्रश्न उठाया जा सकता है, “उन्होंने अपनी उपस्थिति में ऐसे अन्यायों तथा अपमानों को क्यों सहा? उन्होंने कुरुओं को तुरन्त दण्ड क्यों नहीं दिया?” जब कौरवों द्वारा सबों की उपस्थिति में द्रौपदी को भरी सभा में नुग्न देखने के प्रयास में उन्हें अपमानित किया गया तो भगवान् ने उनके वस्त्र को असीमित रूप में बढ़ाकर उनकी रक्षा की। किन्तु उन्होंने अपमान करने वाले पक्ष को तुरन्त दण्ड नहीं दिया। इस चुप्पी का यह अर्थ नहीं होता कि उन्होंने

कुरुओं के अपराधों को क्षमा कर दिया था। पृथ्वी पर ऐसे अनेक राजा थे, जो तीन प्रकार की सम्पत्तियों—धन, शिक्षा तथा अनुयायियों—के कारण गर्वित हो उठे थे और वे सैन्यबल की गतिविधियों से पृथ्वी को लगातार उद्विग्न बना रहे थे। भगवान् इस ताक में थे कि वे सभी कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में एकत्र हों तो उन सबों का एकसाथ सफाया कर दिया जाय जिससे उनका वध करने का उद्देश्य थोड़े में पूरा हो सके। ईशविहीन राजागण या राज्यों के प्रधान जब धन, शिक्षा तथा जनसंख्या वृद्धि से गर्वित हो उठते हैं, तो वे सैन्यबल का प्रदर्शन करते हैं और निर्दोषों को कष्ट देते हैं। जब भगवान् कृष्ण स्वयं उपस्थित थे तो संसार भर में ऐसे अनेक राजा थे, अतः भगवान् ने कुरुक्षेत्र युद्ध के लिए योजना तैयार की। अपने विश्वरूप के प्राकट्य में भगवान् ने वध करने के अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, “मैं अवांछित जनसंख्या को कम करने के लिए क्रूर कालरूप में इस पृथ्वी पर स्वेच्छा से अवतरित हुआ हूँ। मैं तुम पाण्डवों के अतिरिक्त यहाँ पर एकत्रित सारे लोगों का सफाया कर डालूँगा। यह वध कार्य तुम्हारी भागीदारी की प्रतीक्षा नहीं करेगा। यह पहले से नियोजित है। सारे लोग मेरे द्वारा वध किये जाएँगे। यदि तुम युद्धभूमि में वीर की तरह प्रसिद्ध बनना चाहते हो और युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति का भोग करना चाहते हो तो हे सव्यसाची! तुम अविलम्ब इस वध के निमित्त बनकर इसका श्रेय प्राप्त करो। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य महान् योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। तुम चिन्ता मत करो। तुम युद्ध करो और महान् योद्धा के रूप में विख्यात बनो।

( भगवद्गीता १.३२-३४ )

भगवान् सदैव चाहते रहते हैं कि उनका भक्त उनके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले किसी उपाख्यान का नायक बने। वे अपने भक्त तथा मित्र अर्जुन को कुरुक्षेत्र युद्ध के वीर के रूप में देखना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने संसार के सारे दुष्टों को एकत्र होने की प्रतीक्षा की। उनके प्रतीक्षा करने का यही कारण है, और कोई अन्य कारण नहीं है।

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय

कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।

नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं

परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥ ४४ ॥

## शब्दार्थ

अजस्य—अजन्मा का; जन्म—प्राकट्य; उत्पत्थ-नाशनाय—दुष्टों का विनाश करने के लिए; कर्माणि—कार्य; अकर्तुः—निठल्ले का; ग्रहणाय—ग्रहण करने के लिए; पुंसाम्—सारे व्यक्तियों का; ननु अन्यथा—नहीं तो; कः—कौन; अर्हति—योग्य हो सकता है; देह-योगम्—शरीर का सम्पर्क; परः—दिव्य; गुणानाम्—तीन गुणों का; उत—क्या कहा जा सकता है; कर्म-तन्त्रम्—कार्य-कारण का नियम।

भगवान् का प्राकट्य दुष्टों का संहार करने के लिए होता है। उनके कार्य दिव्य होते हैं और समस्त व्यक्तियों के समझने के लिए ही किये जाते हैं। अन्यथा, समस्त भौतिक गुणों से परे रहने वाले भगवान् का इस पृथ्वी में आने का क्या प्रयोजन हो सकता है ?

तात्पर्य : ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ( ब्रह्म-संहिता ५.१ )—भगवान् का स्वरूप नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ है। अतएव उनका तथाकथित जन्म एक तरह से केवल प्राकट्य होता है, जिस तरह क्षितिज से सूर्य का उत्पन्न होना है। उनका जन्म जीवों जैसा प्रकृति के प्रभाव तथा विगत कर्मों के फलों के बन्धन के अन्तर्गत नहीं होता। उनके कार्य एवं गतिविधियाँ स्वतंत्र लीलाएँ हैं और भौतिक प्रकृति के कर्मफलों के अधीन नहीं हैं। भगवद्गीता (४.१४) में कहा गया है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

जीवों के लिए भगवान् द्वारा बनाया गया कर्म का नियम स्वयं भगवान् पर लागू नहीं होता, न ही वे सामान्य जीवों की तरह कर्मों के द्वारा अपने को सुधारने के लिए इच्छुक रहते हैं। साधारण जीव अपने बद्ध जीवन को सुधारने के लिए कर्म करते हैं, किन्तु भगवान् पहले से समस्त ऐश्वर्य, समस्त बल, समस्त यश, समस्त सौन्दर्य, समस्त ज्ञान तथा समस्त त्याग से परिपूर्ण हैं। तो फिर वे सुधार के लिए इच्छा क्यों करें? कोई व्यक्ति किसी भी ऐश्वर्य में उनसे आगे नहीं जा सकता, अतएव सुधार की इच्छा उनके लिए सर्वथा निरर्थक है। मनुष्य को सदैव भगवान् तथा सामान्य जीवों के कार्यकलापों में अन्तर करना चाहिए। तभी वह भगवान् के दिव्य पद के विषय में सही निर्णय पर पहुँच सकता है। जो भगवान् की दिव्यता के विषय में किसी निर्णय पर पहुँच जाता है, वह भगवान् का भक्त बन सकता है और अपने विगत कर्मों के समस्त फलों से तुरन्त मुक्त हो सकता है। कहा गया है कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्; भगवान् भक्त के विगत कर्मों के फलों को या तो कम कर देते हैं या एकदम निष्प्रभावित कर देते हैं ( ब्रह्म-संहिता ५.५४ )

भगवान् के कार्यकलाप सभी जीवों द्वारा अपनाए जाने तथा आस्वाद किये जाने के लिए हैं। उनके कार्यकलाप सामान्य व्यक्ति को भगवान् के प्रति आकृष्ट करने के लिए होते हैं। भगवान् सदैव भक्तों के हित में कार्य करते हैं, अतएव सामान्य व्यक्ति, जो कि सकामकर्मी होते हैं या मोक्षकामी होते हैं, भगवान् के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं जब वे भक्तों के रक्षक के रूप में कार्य करते हैं। सकाम कर्मी भक्ति-मय सेवा द्वारा अपने लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं और मोक्षकामी भी भगवद्भक्ति द्वारा अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। भक्तगण न तो अपने कर्म का फल चाहते हैं न ही वे किसी प्रकार का मोक्ष चाहते हैं। वे तो भगवान् के यशस्वी अतिमानवीय कार्यों का, यथा उनके द्वारा गोवर्धन पर्वत के उठाये जाने तथा बाल्यावस्था में ही पूतना राक्षसी का वध किये जाने का, आस्वादन करते हैं। उनके कार्य सभी प्रकार के लोगों—*कर्मियों*, *ज्ञानियों* तथा *भक्तों*—को आकृष्ट करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि वे कर्म के समस्त नियमों से परे हैं, अतएव उनके लिए माया के रूप को स्वीकार करने की सम्भावना नहीं रहती, जिस प्रकार अपने कर्मों के फलों से बद्ध सामान्य जीव बाध्य हो जाते हैं।

उनके प्राकट्य का गौण प्रयोजन दुष्ट असुरों का संहार करने तथा अल्पज्ञों द्वारा अनर्गल नास्तिकतावादी प्रचार को रोकना है। भगवान् की अहैतुकी कृपा से भगवान् द्वारा मारे जाने वाले असुरों को मोक्ष प्राप्त होता है। भगवान् का सार्थक प्राकट्य सामान्य जन्म से सदैव भिन्न होता है। यहाँ तक कि शुद्ध भक्तों का भी भौतिक देह से कोई सम्बन्ध नहीं होता और सच्चिदानन्द रूप में प्रकट होने वाले भगवान् निश्चित रूप से भौतिक स्वरूप द्वारा परि-सीमित नहीं होते।

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-

मवस्थितानामनुशासने स्वे ।

अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य

वार्ता सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥ ४५ ॥

**शब्दार्थ**

तस्य—उसका; प्रपन्न—शरणागत; अखिल-लोक-पानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सारे शासकों के; अवस्थितानाम्—स्थित; अनुशासने—नियंत्रण में; स्वे—अपने; अर्थाय—स्वार्थ हेतु; जातस्य—उत्पन्न होने वाले का; यदुषु—यदु कुल में; अजस्य—अजन्मा की; वार्ताम्—कथाएँ; सखे—हे मित्र; कीर्तय—कहो; तीर्थ-कीर्तेः—तीर्थस्थानों में जिन के यश का कीर्तन होता है, उन भगवान् का।

अतएव हे मित्र, उन भगवान् की महिमा का कीर्तन करो जो तीर्थस्थानों में महिमामंडित किये जाने के निमित्त हैं। वे अजन्मा हैं फिर भी ब्रह्माण्ड के सभी भागों के शरणागत शासकों

पर अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा वे प्रकट होते हैं। उन्हीं के हितार्थ वे अपने शुद्ध भक्त यदुओं के परिवार में प्रकट हुए।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में नाना प्रकार के लोकों में असंख्य शासक हैं—सूर्यलोक में सूर्यदेव, चन्द्रलोक में चन्द्रदेव, स्वर्गलोक में इन्द्र, वायु, वरुण, तथा ब्रह्मलोक में देवता जिसमें ब्रह्माजी निवास करते हैं। ये सभी भगवान् के आज्ञाकारी सेवक हैं; जब भी विभिन्न ब्रह्माण्डों के असंख्य लोकों के प्रशासन में कोई विपत्ति आती है, तो उनके शासक भगवान् से प्रकट होने के लिए प्रार्थना करते हैं और वे प्रकट होते हैं। इसकी पुष्टि भागवत (१.३.२८) में निम्नलिखित श्लोक में पहले ही हुई है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

हर युग में, जब भी आज्ञाकारी शासकों पर कोई विपत्ति आती है, तो भगवान् प्रकट होते हैं। वे अपने शुद्ध अनन्य भक्तों के लिए भी प्रकट होते हैं। शरणागत शासक तथा शुद्ध भक्तगण सदैव भगवान् के कठोर नियंत्रण में रहते हैं और वे कभी भी भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन नहीं करते। इसीलिए भगवान् सदैव उनका ध्यान रखते हैं।

तीर्थाटन का उद्देश्य भगवान् का निरन्तर स्मरण करना है इसीलिए भगवान् तीर्थकीर्ति कहलाते हैं। तीर्थस्थान की यात्रा करने का उद्देश्य भगवान् की महिमा के गायन का अवसर प्राप्त करना है। आज भी, यद्यपि समय बदल चुका है, फिर भी भारत में तीर्थयात्रा के अनेक स्थल हैं। उदाहरणार्थ, मथुरा तथा वृन्दावन में, जहाँ हमें ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ है, लोग प्रातः काल चार बजे से जग कर रात होने तक किसी न किसी रूप में भगवान् की महिमा के गायन में लगे रहते हैं। ऐसे तीर्थस्थान की शोभा यह है कि मनुष्य को स्वतः भगवान् की पवित्र महिमा का स्मरण हो आता है। उनका नाम, यश, गुण, रूप, लीलाएँ तथा साज-सामग्री भगवान् से अभिन्न हैं, अतएव भगवान् की महिमा के कीर्तन से भगवान् की साकारता का आवाहन होता है। किसी भी समय या कहीं भी शुद्ध भक्त-गण मिल कर भगवान् की महिमा का कीर्तन करते हैं, तो निस्सन्देह भगवान् आकर उपस्थित होते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है कि जहाँ उनके शुद्ध भक्त उनकी महिमाओं का गायन करते हैं वहाँ वे सदैव निवास करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्न” नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।